आप अपने अधरामृत का दान करो, इस प्रकार गोपियां प्रार्थना करती हैं।

पहले श्लोक की तरह इस श्लोक में भी कहा भगवान् का अधरामृत गुणाधायक-गुण स्थापन करनेवाला कहा है।

'मधुरया गिरा' इस आठवें श्लोक में कहा अधरामृत मरण-दोष निवर्तक है, इस श्लोक में कहा अधरामृत गुण देनेवाला है, इसलिये पुनरुक्ति दोष नहीं है।

इस श्लोक में कहे अधरामृत में चार गुण कहने की इच्छा है, कारण कि यहां ज्ञान तथा वैराग्य का उपयोग नहीं है, इसलिये इस अधरामृत में ऐश्वर्यादि चार धर्मों का निरूपण किया है।

अब प्रथम विशेषण से गोपियां अधरामृत के ऐश्वर्य धर्म का वर्णन करती हैं 'सुरतवर्धनं' आपका अधरामृत सुरत बढानेवाला है।

जिस समय गोपिकाओं में स्थित परिच्छिन्न-आगन्तुक, अनित्य, काम का भगवान् के अपरिच्छिन्न स्वरूप के साथ संयोग होता है, उस समय गोपियों का परिच्छिन्न काम विश्लिष्ट होता है।

जिस प्रकार रसादि ओषधियां भूख बढ़ाती हैं, उसी प्रकार भगवान् का अधर रस काम का उद्बोध-बढ़ानेवाला है।

भगवान् का अधर रस केवल काम का ही पोषण नहीं करता है, किन्तु जितने अन्तःकरण में दोष हैं, उन सभी दोषों को दूर करता है, अतः भगवान् का अधरामृत शोकनाशक है, शोकनाशक होने से ज्ञान वैराग्य रूप भी निरूपण किया है।

अथवा 'सुरतवर्धनं' इस विशेषण से ऐश्वर्य और 'शोकनाशनं' इससे धर्मरूपता निरूपण की है।

अब गोपियाँ भगवान् के अधरामृत को यशरूपता कहती हैं, (स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्) स्वरित-अर्थात् नादयुक्त जो वेणु उस वेणु से सुन्दर प्रकार से भगवान् का अधरामृत चुम्बन किया है। नाद को जाननेवाले ही यशगान करते हैं, वेणुभगवान् का परमभक्त है, किन्तु इस वेणु नेभी सुन्दर रीति से चुम्बन ही किया है, पान नहीं किया है, वेणु भगवान् के अधरामृत का चुम्बन करके यश कीर्तन करता है।

(इतररागविस्मारणं) श्री-लक्ष्मीरूप है, लक्ष्मी सबका विस्मरण कराती है, जिस समय लक्ष्मी प्राप्त होती है, उस समय फिर सब भूल जाता है, इसी प्रकार भगवान् का अधरामृत सब में जो राग है, उसका विस्मरण कराता है, भगवान् का अधरामृत स्वयं पुरुषार्थ रूप है, इसलिये 'सुरतवर्धनं' आदि चारो विशेषणो से प्रमाण प्रमेय साधन और फल, इन चारों का वर्णन किया है।

'इतररागविस्मारणं' इस विशेषणसे प्रमेयबल कहा है, और इससे पूर्व का विशेषण 'स्वरित वेणुना सुष्ठु चुम्बितम्' इससे प्रमाण बल कहा है, कारण कि वेणुनाद वेद रूप है।

यदि कहो कि वेणु वेद रूप है, इसमें क्या प्रमाण है।

तब इसके उत्तर में कहते हैं कि 'वंशस्तु भगवान् रुद्रः' इस प्रकार कृष्णोपनिषद् में वेणु को शिव रूप कहा है, और 'वेदः शिवः शिवो वेदः' इस श्रुति में शिव को वेदरूपता कही है, इसलिये वेणु को भी वेदरूपता है। जिस प्रकार वेद स्वतः प्रमाण है, उसी प्रकार वेदात्मक होने से वेणुनाद भी स्वतः प्रमाण है, इस प्रकार उक्त विशेषण से प्रमाणबल कहा है।

'शोकनाशनं' इस विशेषण से फल बल कहा है, अर्थात् वेणुनाद प्रमाण रूप से इतर राग विस्मारणरूप प्रमेय ज्ञान होता है, और प्रमेय ज्ञान होने पर शोकनाशनरूप फल होता है, इस शोकनाशनरूप फल की सिद्धि के लिये साधन 'सुरतवर्धनं' इस विशेषण से कहा है, इस प्रकार भगवान् का अधरामृत चार प्रकार के पुरुषार्थ का देनेवाला, तथा स्वतः पुरुषार्थ रूप है। अर्थात्

प्रथम 'सुरतवर्धनं' काम का 'शोकनाशनं' मोक्ष का 'स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितं' धर्म का 'इतर राग विस्मारणं' अर्थ का, इस प्रकार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का देनेवाला कहा है, और स्वयं पुरुषार्थरूप है।

हम अधिकारी अथवा अनधिकारी, अथवा दुर्लभ पुरुषार्थ को यद्यपि आप का स्वतः पुरुषार्थ रूप अधरामृत देने योग्य नहीं है, तथापि आपमें वितरण गुण-दान गुण है, इसलिये दान गुण से अधरामृत का दान कर सकते हो, इसीसे गोपी ने 'वितर' दान करो, इस प्रकार प्रार्थना की है, मूल में 'नृणां' पद साधारण मनुष्य वाची कहा है, इससे अनधिकारिता सूचन की है, अतः निःसाधनों को परमपुरुषार्थ का दान करने से आपका अधिक उत्कर्ष गोपियों ने वर्णन किया है।

अथवा सुबोधिनी में 'दुर्लभ पुरुषार्थानां' इस प्रकार दूसरा पक्ष कहा है, इस दूसरे पक्ष में 'नृ' शब्द से पुरुषजीव कहा है, अतः अन्यद्वारा दुर्लभ, पुरुषार्थ का अर्थ होता है।

यदि यह आपका अधरामृत हम 'नृ' शब्द वाच्यों को अप्राप्य है, तो फिर हमसे इतरों को प्राप्त नहीं होगा, यह भाव है।

हे वीर, इस संबोधन से शूरता का परिचय हम सबको इस प्रकार की दशा में ही अधरामृत का पान करा करके हो सकता है, अन्य प्रकार से नहीं संभव होता है, इस प्रकार गोपियों ने निरूपण किया है॥ १४॥

(सुबो०) एवं त्रिविधा निरूप्य, पुनस्तामस्यः त्रिविधा निरूप्यन्ते। देवनिन्दिकाः सात्त्विकतामस्यः। भगवन्निन्दिकाः तामसतामस्यः। स्वनिन्दिका राजसतामस्य इति भटतीति।

इस प्रकार १२-१३-१४ तीन श्लोकों में अन्यपूर्वा राजस गोपियों का क्रम से राजस तामसी, राजस राजसी, राजस सात्त्विकी, उक्त तीन प्रकारों का निरूपण करके अब १५-१६-१७ इन तीन श्लोकों में अन्यपूर्वा तामसी गोपियों के तीन प्रकार निरूपण करते हैं, उसमें देव निन्दा करने वाली गोपियां सात्त्विक तामसी हैं, भगवान की निन्दा करनेवाली गोपियां तामस तामसी हैं, और अपनी निन्दा करनेवाली गोपियां राजस तामसी हैं। प्रथम इस १५ वें श्लोक में सात्त्विक तामसी गोपियां कहती हैं।

अटति यद्भवानह्नि काननं त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम्॥१५॥

पदपदार्थ—(भवान्) आप (अह्नि) दिन में (काननं) वन को (यत्) जो (अटति) पधारते हैं, (त्वाम्) आपको (अपश्यताम्) बिना देखे हमको (त्रुटिः) सूक्ष्मकाल (युगायते) युग की तरह लगता है (च) और (कुटिलकुन्तलं) टेढे-छल्लेदार केशयुक्त (श्रीमुखं) श्रीमुख (ते) आपका (उदीक्षतां) देखनेवाली हमको (दृशां) नेत्रों का (पक्ष्मकृत्) पलक करनेवाला ब्रह्मा (जडः) जड है, इस प्रकार मालूम होता है॥ १५॥

भाषार्थ—आप दिन में वन को जो पधारते हैं, उस समय-दिन में आपके दर्शन बिना हमको त्रुटि काल युग की तरह लगता है, और आपका कुटिल-छल्लेदार केशयुक्त श्रीमुख निरखने वाली हमको नेत्रों में पलक बनानेवाला ब्रह्मा जड मालूम पड़ता है॥ १५॥

(सुबो०) भवान् अह्नि काननं यदटति, तत्र दिवसे त्रुटिः युगायते । तत्र निमित्तं त्वामपश्यतामिति । यदा पुनः पश्यामः, तदा कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं ते उदीक्षतां नोस्माकं यः पक्ष्मकृद् ब्रह्मा स जडः । यथा देवानां पक्ष्म न करोति, अलौकिकद्रष्टृत्वात्, तदपेक्षयाप्यत्यलौकिकद्रष्टृत्वादस्माकमपि पक्ष्मकरणमनुचितम् । अतोऽनुचितकरणात् जडः 'देवा हि बहुकालं जीवन्ति, तथा वयमपि । त्रुटिर्युगायत इति । त्रुटिशब्दः स्त्रियाम् । यदि सार्थकं गमनं भवेत्, तथापि न काचिच्चिन्ता । परमह्नि काननमेवाटति, न तु कानने कश्चन पुरुषार्थः । अस्माकं च न बहिर्गमनं संभवति । एवं देवत्वं भगवता संपादितम् । मूर्खो ब्रह्मा तादृशीनां पक्ष्मकृत् ॥ १५ ॥

आप दिन के समय वन में जब डोलते हैं, उस समय दिन में त्रुटि-सूक्ष्मकाल युग की तरह लगता है, इसका कारण गोपियां कहती हैं, (त्वामपश्यताम्) आपके दर्शन बिना सूक्ष्म काल भी युग समान मालूम पड़ता है ।

और जिस समय फिर आपका दर्शन करती हैं, उस समय कुटिल केशयुक्त श्रीमुख आपका निरखने वाली हमको जो पक्ष्मकृत् पलक बनानेवाला ब्रह्मा है, वह जड मालूम पड़ता है ।

कारणकि पलक आपके श्रीमुख के दर्शन में प्रतिबन्ध करते हैं, आपके दर्शन में क्षणभर का भी प्रतिबन्ध हम को सहन नहीं होता है, अतः ब्रह्मा हमको जड मालूम पड़ता है ।

जिस प्रकार ब्रह्मा ने देवताओं के पलक नहीं बनाये हैं कारण कि देवता अलौकिक द्रष्टा हैं । हम तो देवताओं की अपेक्षा भी अलौकिक देखनेवाली हैं, इसलिये हमारे नेत्रों में ब्रह्मा ने पलक लगाकर अनुचित कार्य किया है, अतः अनुचित कार्य करने से ब्रह्मा जड है ।

देवता बहुत काल तक जीते हैं, उसी प्रकार हम भी बहुत काल तक जीनेवाली हैं, इस बात का सूचन गोपियां 'त्रुटिर्युगायते' इस पद से कहती हैं, कि हमको भी एक पल युग की तरह व्यतीत होता है ।

त्रुटि शब्द स्त्री लिङ्ग वाचक है, यद्यपि यहां इसका प्रयोजन नहीं है, तथापि शब्द का स्वरूप बतलाने के लिये कहा है ।

यदि आपका वन में सार्थक गमन हो, तो हमको कोई बात की चिन्ता न हो, किन्तु आप तो दिन के समय वन में ही डोलते हैं ।

यहां कानन शब्द में द्वितीया ईप्सतम अर्थ में है, इसलिये आपको वन में फिरना ही अच्छा लगता है, वन में तो कोई पुरुषार्थ नहीं है, और हमारा घर से बाहर निकलना संभव होता नहीं है, भगवान ने हमको देवत्व संपादन कर दिया है, और ब्रह्मा ने हमारे-देवताओं के पटल बना दिये हैं इसलिए ब्रह्मा मूर्ख है ॥ १५ ॥

(सुबो०) तदपेक्षया हीना आहुः—पतीति ।

अब पूर्वोक्त सात्त्विक तामसी गोपियों से हीन तामस तामसी अन्यपूर्वा भगवान् का निन्दा करती हैं ।

पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवानतिविलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युतागताः ।
गतिविदस्तवोद्गीतमोहिताः कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि ॥१६॥

पदपदार्थ—(पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवान) पतिपुत्र वंश भाई संबंधियों को (अतिविलङ्घ्य) उल्लङ्घन करके—छोड़करके (हे अच्युत) हे च्युतिरहित (ते) आपके (अन्ति) समीप में (आगताः) आई हैं (गतिविदः) सबों की गति जाननेवाले (तव) आपके (उद्गीतमोहिताः) उच्चस्वर गान से मोहित हुई हम सब (योषितः) स्त्रियों को (हे कितव) हे कपटी (निशि) रात्रि में (कः) कौन (त्यजेत्) त्याग करे ॥ १६ ॥

भाषार्थ—पतिपुत्र वंश भाई बान्धवों का उल्लङ्घन करके हे अच्युत आपके समीप में हम आई हैं, इस प्रकार सबकी गति जाननेवाले आपके उद्गीत से मोहित हुई स्त्रियों का हे कितव-कपटी रात्रि में कौन त्याग करे ॥ १६ ॥

(सुबो०) हे अच्युत, स्वतः कामनिवृत्तिभयरहित । पतिः, सुताः, अन्वयो वंशः, भ्रातरः, बान्धवाः संबन्धिनः, एते सर्वथा अविलङ्घ्याः, तानप्यतिविलङ्घ्य ते अन्ति समागताः । त्वं सर्वेषां गतिं जानासीति गतिवित् । सर्वैर्यावती गतिः संपाद्यते, तां भवानेव दास्यतीति । वयं वा गतिविदः 'तेषां भजने भगवद्भजने च तारतम्यविदः । किञ्च, तव उद्गीतेन च मोहिताः । अतो मोहयित्वा समानीय उभयभ्रंशार्थम् अरण्ये निशि योषितः कस्त्यजेत् । सर्वदैव स्त्रियो न त्याज्यः । सुतरामरण्ये । सुतरां निशि । यदर्थं वा समाहूताः, तदप्यदत्वेत्यभिप्रायेण सम्बोधनम् 'कितवानां वयं संबन्धिन्यः' अतोऽस्माकं तेषु न प्रवेशः॥१६॥

हे अच्युत, स्वतः कामनिवृत्ति भय से रहित, जिस समय दूसरे का काम निवृत्त हो जाता है, अर्थात् च्युत हो जाता है, उस समय स्वयं आप ही इस लीला से निवृत्त हो जाता है, किन्तु भगवान अपनी लीला से स्वतः निवृत्त नहीं होता है, कारण कि भगवान का काम निवृत्त नहीं होता है ।

गोपियां कहती हैं कि पति पुत्र वंश भाई बान्धव-संबंधि ये सब सर्वथा उल्लङ्घन करने-त्यागने योग्य नहीं हैं, किन्तु इन सबका भी उल्लङ्घन करके हम सब आपके समीप में आई हैं, आप सब की गति को जानते हो, इसलिये गतिवित् हो, सबलोग जितनी गति संपादन करते हैं, उसको आप ही देंगे ।

अथवा हमसब गति जाननेवाली हैं, कारण कि पति आदि के भजन में और आप भगवान् के भजन में जो तारतम्य-अन्तर है, उसको जाननेवाली हैं, इस प्रकार गति में तारतम्य ज्ञान से आपके समीप में आई हैं, तथा आपके उद्गीत से मोहित हुई आपके समीप में आई हैं ।

अतः गान से मोह करा करके अपने पास में बुलाकर पति आदि से तथा आप अपने समीप से, इस प्रकार दोनों तरफ से भ्रंश करने के लिये (अरण्ये) वन में, यह अभिप्राय कितव संबोधन का है कितव ही अरण्य में ठग करके छोड़ता है, इसलिये यहां अरण्य कहा है, उसमें भी (निशि) रात्रि में स्त्रियों को आपके बिना अन्य कौन त्याग करे । स्त्रियों का त्याग तो सर्वदा ही नहीं करना चाहिये, उसमें भी वन में, त्याग करना उचित नहीं, उसमें भी रात्रि में त्याग करना तो अत्यन्त अनुचित होता है ।

अब गोपियां 'कितव' संबोधन का दूसरा अभिप्राय कहती हैं, जिस अर्थ के लिये आपने हमको यहां पर बुलाया है, उस अर्थ को दिये बिना हमारा त्याग करते हो, इसलिये आप कितव-कपटी हो इस अभिप्राय से कितव संबोधन है।

अथवा (कितवयोषितः) इस प्रकार समस्तपद जानना चाहिये, इसका अर्थ, कितव-कपटी गोपों की केवल हम संबंधिनी हैं, किन्तु स्त्री नहीं है, गोपों ने हमारा भोग नहीं किया है, कारण कि हम एक आप-भगवान के ही भोग्य हैं, गोपों को तो 'हम इनके पति हैं, इस प्रकार केवल अभिमान मात्र ही है, 'मन्यमानाः स्व पार्श्वं स्थान जिस प्रकार रास क्रीडा समाप्त होने पर, गोपों ने अपनी २ स्त्रियों अपने-अपने पास में जानी थीं, भगवान के पास में गई हुई नहीं जानी थीं, उसी प्रकार गोपों को सर्वदा अभिमान मात्र है; कि गोपियां हमारी पत्नियां हैं, किन्तु गोपकृत भोग नहीं है, कारण कि हम एक भगवान के ही भोग्य हैं, इसलिये गोप योग माया से मोहित हो गये हैं।

और गोपियों के जो पुत्रादि की उत्पत्ति हुई है, वह अलौकिक प्रकार से भगवान के द्वारा ही हुई है, यह बात सत्रह अध्याय की टिप्पणी में स्फुट है।

गोपों में पतित्व का अभाव होने पर भी, जो पतित्व से अङ्गीकार है, वह रसपोषण करने के लिये है, कारण कि रस परकीया में ही होता है, यह वात्स्यायन सूत्र में कहा है, इसलिये वास्तव में गोपियां भगवान के ही एक भोग्य हैं, इस प्रकार निष्कर्ष है, इसीसे आगे कहती हैं कि हमारा गोपों में प्रवेश नहीं है ॥ १६ ॥

(सुबो०) तत उत्तमाः आत्मानमेव निन्दन्ति—रहसीति ।

अब पूर्वोक्त तामसतामसी गोपियों से उत्तम राजसतामसी गोपियां अपनी ही निन्दा करती हैं।

रहसि संविदं हृच्छयोदयं प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम् ।
बृहदुरः श्रियो वीक्ष्य धाम ते मुहुरतिस्पृहं मुह्यते मनः ॥ १७॥

पदपदार्थ—(रहसि) एकान्त में (संविदं) वाक्य-अथवा ज्ञान को (हृच्छयोदयं) कामका उद्बोधक—उदय करनेवाला (प्रहसिताननं) हास्ययुक्त श्रीमुख को (प्रेमवीक्षणं) प्रेम-पूर्वक कटाक्ष को (श्रियः) लक्ष्मी का (धाम) स्थान (ते) आपका (बृहद्) विशाल (उरः) वक्षस्थल को (वीक्ष्य) देखकर हमारा (मनः) मन (अतिस्पृहं) अत्यन्त स्पृहा करता हुआ (मुहुः) बारं-बार (मुह्यते) मोह को प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

भाषार्थ—आपका एकान्त में संभाषण, काम का उद्दीपक हास्ययुक्त श्रीमुख, प्रेमपूर्वक कटाक्ष, और लक्ष्मी का धामरूप आपका विशाल वक्षस्थल, इन सबको देखकर हमारा मन अत्यन्त स्पृहा करता बारंबार मोह को प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

(सुबो०) नो मनः अतिस्पृहं सत् मुह्यत इति । तत्र कारणत्रयं गुणत्रय-सहितम् वाक्यं हास्यमुरश्चैव कामानन्दाधिकारिणः । रहसि एकान्ते या संविद् ज्ञानं वा । पूर्ववत् हृच्छयस्य कामस्य उदयो येन तादृशम् । प्रहसितयुक्तमाननं प्रेम-पूर्वकं वीक्षणं च यस्मिन् । श्रियो धाम बृहदुरः । भगवद्रूपस्य वा षड्गुणत्व-मुच्यते । रहसि संविदो यस्मादिति 'एतादृशं त्वाम्' हृच्छयस्य उदयो यस्माद्

'प्रहसितमाननं यस्य' प्रेमपूर्वकं वीक्षणं यस्य । बृहदुरः श्रीधाम च वीक्ष्य । प्रमाणादिबलरूपता भगवद्रूपे निरूपिता 'वक्षसि च स्वस्थित्यर्थं यशः श्रीश्च निरूपिता । मुखदर्शनेनैव प्रहसितयुक्तत्वात् पूर्वस्थित्यभावः' ततः कामः 'प्रेमवीक्षणेन च तस्य स्थिरीकरणम् । ततः स्वयोग्यता । ततो भोगचातुर्यं प्रथमविशेषणेन' एवं सर्वं भविष्यतीति अतिस्पृहायुक्तं मनः मुह्यते, केवलं मोहं प्राप्नोति, पदार्थलाभात् मुहुर्मूर्च्छा समायातीति जीवनमरणान्यतराभावात् धिग्जीवनमित्यर्थः ॥ १७ ॥

गोपियां कहती हैं कि हमारा मन अत्यन्त स्पृहा-इच्छा करना मोह को प्राप्त होता है।

मनके मोह होने में तीन गुण सहित तीन कारण हैं, अर्थात् भगवान के वचन, हास्यसहित मुख, और भगवान् का वक्षस्थल, इस प्रकार तीन कारण हैं, और 'हृच्छयोदयं' कामोदय वचन का गुण है, 'प्रेमवीक्षणं' प्रेमपूर्वक देखना हास्य का गुण है, 'श्रियो धाम' लक्ष्मी का स्थान वक्षस्थल का गुण है, इस प्रकार वचन आदि प्रत्येक के तीन गुण हैं।

अब श्रीमहाप्रभुजी अर्धकारिका से मोह के कारण तीन कहते है।

'वाक्यं' हास्य मुरश्चैव कामानन्दाधिकारिणः। वाक्य, हास्य और वक्षस्थल, उक्त तीनों क्रम से काम, आनन्द और अधिकार देनेवाले हैं। अर्थात् बंध आदि का ज्ञान देने से भगवान् के वाक्य कामोद्बोधक हैं, हास्य आनन्दोद्बोधक है, तथा लक्ष्मी का धाम होने के कारण वक्षस्थल से रसलीला के अधिकारियों का बोध होता है।

(रहसि) एकान्त में जो 'संविद-वाक्य अथवा ज्ञान, एकान्त में जिस वाक्य से बंधादि ज्ञान होता है, वह वाक्य 'रहसि संवित् कहा जाता है।

वाक्य निरूपण करने में जिस प्रकार वाक्य में मधुरत्व, वल्गुवाक्यत्व, बुधमनोज्ञत्व, इस प्रकार तीन गुण दीखते हैं, उसी प्रकार वाक्य से उत्पन्न ज्ञान में भी तीन गुण दीखते हैं, इसलिये ज्ञान भी पूर्ववत् वाक्यों के सदृश ही है।

पूर्ववत् 'हृच्छय-काम का उदय जिससे इसप्रकार के वाक्य 'हृच्छयोदय कहलाते हैं।

प्रहसित युक्त मुख, और प्रेमपूर्वक कटाक्ष जिस मुख में, इस प्रकार का भगवान का मुख है।

और लक्ष्मी का धाम विशाल भगवान का वक्षस्थल है, गोपियाँ कहती हैं कि आपके कामोदय करनेवाले वाक्य, तथा प्रेमपूर्वक कटाक्षवाला हास्ययुक्त मुख, और विशाल वक्षस्थल, इन तीनों को देखकर वाक्य पक्ष में 'वीक्ष्य' इसका अर्थ जानकर-सुनकर हमारा मन मोह को प्राप्त होता है।

अथवा 'रहसिसंविदं, इत्यादि से छै गुण भगवान के ही कहे हैं, इस पक्ष में 'रहसि संविदं' इत्यादि चार पदों में बहुव्रीहि समास है, 'रहसि संविदो यस्मात्' एकान्त में संविद जिससे, इस प्रकार के आपको देखकर 'हृच्छयस्य उदयो यस्मात्' काम का उदय जिससे, इस प्रकार के आपको देखकर 'प्रहसितमाननं यस्य' हास्ययुक्त मुख जिसका, इस प्रकार के आपको देखकर 'प्रेमपूर्वकं वीक्षणं यस्य' प्रेमपूर्वक वीक्षण जिसका, इस प्रकार के आपको देखकर और आपके विशाल वक्षस्थल को, तथा लक्ष्मी के धाम को देखकर हमारा मन मोह को प्राप्त होता है।

उक्त चार पदों से भगवान के स्वरूप में प्रमाणादि बलरूपता भी निरूपण की है।

'रहसि संविदं' इसमें भगवान के वाक्य का कथन है, भगवान का वाक्य प्रमाणरूप है, यह स्पष्ट ही है।

'हृच्छयोदयं' इससे प्रमेय बल कहा है, कारण कि भगवान के प्रमाणरूप शृङ्गार रस संबंधी वाक्यों से काम का उदय प्रमेय बल है।

'प्रहसिताननं' इससे साधन कहा है, कारण कि इस प्रकार हास्यसहित श्रीमुख सर्वफल साधक है।

'प्रेमवीक्षणं' इससे फल कहा है, कारण कि प्रेमपूर्वक भगवान का भक्तों को अवलोकन करना साध्य फल है।

इस प्रकार चार विशेषणों से भगवान के स्वरूप में प्रमाण प्रमेय साधन फल, चार प्रकार के बल का वर्णन किया है।

कहनेवाली गोपियों ने भगवान के विशाल वक्षस्थल में अपनी स्थिति करने के लिये यश का निरूपण किया है।

भगवान् का वक्षस्थल बृहत् है, बड़ा-विशाल वक्षस्थल यश सूचन करता है, इस प्रकार सामुद्रिक शास्त्र में कहा है। इसलिये 'बृहदुरः' इससे यश का वर्णन किया है।

'श्रियोधाम' इस पद से श्री का वर्णन किया है।

भगवान का हास्ययुक्त मुख का दर्शन करने से ही गोपियों की पूर्व स्थिति नष्ट हो जाती है, अर्थात् गोपियों ने जबतक भगवान के प्रहसित मुख का दर्शन नहीं किया था, उसके पहिले गोपियों में मान था, किन्तु वह मान भगवान का हास्ययुक्त श्रीमुख देखकर चला गया, कारण कि भगवान के हास्ययुक्त श्रीमुख की शोभा को देखने से गोपियों को परम उत्कंठा उत्पन्न हो जाती है, इसलिये मान ठहर नहीं सकता है, यह भाव है।

इसके अनन्तर 'हृच्छयोदयं, इससे काम कहा है।

'प्रेमवीक्षणं' इससे काम को' स्थिर करना कहा है, फिर इसके अनन्तर 'बृहदुरः श्रियोधाम' भगवान का विशाल वक्षस्थल लक्ष्मी का धाम है, इस प्रकार कथन से गोपियों ने अपनी योग्यता बतलाई है।

फिर प्रथम विशेषण 'रहसि संविदं' इससे एकान्त में शृङ्गार रस संबंधी वाक्यों से भोग में चतुराई का वर्णन किया है। अर्थात् आपके वाक्यों से हममें चातुर्य आजायेगा, इस प्रकार हमारा सबंकार्य सिद्ध हो जायेगा, इस प्रकार विचारकर अत्यन्त स्पृहा-इच्छा युक्त हमारा मन मोह को प्राप्त होता है, न केवल मोहको ही प्राप्त होता है किन्तु इष्ट पदार्थ के न मिलने से बारंबार मूर्च्छा को प्राप्त होता है।

गोपियां कहती हैं कि न तो हमारा जीवन ही होता है, और न मरण ही होता है, दोनों में से एक भी नहीं होता है, इसलिये हमारे जीवन को धिक्कार है, यह अर्थ है, इस प्रकार गोपियों ने अपनी निन्दा की है ॥ १७ ॥

(सुबो०) पुनरनन्यपूर्वा एतावत्कालं मनोरथाभिनिविष्टा किञ्चित्प्रार्थयते व्रजवनौकसामिति।

फिर सत्त्वमिश्रतामसी अनन्य पूर्वा-कुमारिका गोपियां इतने काल पर्यन्त मनोरथ कर रही थीं इसलिये प्रार्थना नहीं कर सकीं. अब फिर कुछ प्रार्थना करती हैं।

व्रजवनौकसां व्यक्तिरङ्ग ते वृजिनहन्त्र्यलं विश्वमङ्गलम्।
त्यज मनाक् च नस्त्वत्स्पृहात्मनां स्वजनहृद्रुजां यन्निषूदनम् ॥१८॥

पदपदार्थ—(हे अङ्ग) यह कोमल संबोधन है (ते) आपकी (व्यक्तिः) प्राकट्य-स्वरूप (व्रजवनौकसाम्) व्रजवासियों का (वृजिनहन्त्री) पाप नाश करनेवाला है (विश्वमङ्गलम्) सर्व विश्व तो मङ्गल रूप है, (स्वजनहृद्रुजां) स्वजन-गोपियों के हृदय रोग का (यन्निषूदनम् । जिसके द्वारा नाश होता है (त्वत्स्पृहात्मनां) आपके स्वरूप में स्पृहायुक्त अन्तः-करणवाली (नः) हम गोपियों को (मनाक्) अल्प थोड़ा (त्यज) छोड़ो 'अर्थात् इस प्रकार की वस्तु हमारे में स्थापन करो ॥ १८ ॥

भाषार्थ—हे अंग आपकी व्यक्ति-प्राकट्य-स्वरूप व्रजवासियों का पाप नाश करनेवाला है, और सब को मङ्गल रूप है, स्वजन-गोपियों के हृदयरोग का जिसके द्वारा नाश होता है, इस प्रकार आपके स्वरूप में स्पृहायुक्त अन्तःकरणवाली हमको रोगनिवर्तक वस्तु का स्थापन करो ॥१८॥

(सुबो०) इयं ते व्यक्तिः व्रजवनौकसां वृजिनहन्त्री पापनाशिका। विश्वस्याप्यत्यर्थं मङ्गलरूपम्। 'दोषनिवर्तकं विशेषाकारेणास्माकमेव गुणाधायकं सर्वेषाम्। अत एतादृशं मनाक् त्यज'। त्यागावश्यकत्वे हेतुः त्वत्स्पृहात्मनामिति। त्वय्येव स्पृहायुक्त आत्मा अन्तःकरणं यासाम्। किं त्यक्तव्यमित्याशङ्क्यामाह स्वजनेति। स्वजनानां गोपिकानां हृद्रुजां हृदयरोगाणां कामरूपाणां यदेव निषूदनं भवति, नितरां सूदनं नाशनं यस्मात्। केषाञ्चित्पापनाशकः, केषाञ्चित्फलदाता, तादृशोस्माकं रोगनिवर्तको भवत्विति ॥ १८ ॥

यह आपकी व्यक्ति-प्राकट्य, स्वरूप व्रजवासियों का वृजिनपाप नाश करनेवाला है, और सर्व विश्व को भी अत्यन्त अर्थमङ्गलरूप है, विशेष करके हम गोपियों का ही दोष दूर करने वाला है, और सबको तो आपका स्वरूप गुण देनेवाला है इसलिये इस प्रकार आपका आनन्दमय स्वरूप का अल्प-नेक स्थापन करो त्यागकरो, आपको त्याग अवश्य करना चाहिये, इसमें गोपियां हेतु बतलाती हैं (त्वत्स्पृहात्मनां) आपमें ही स्पृहायुक्त आत्मा-अन्तःकरण हमारा है।

यदि आप कहो कि किस वस्तु का त्याग-स्थापन करना चाहिये।

तब इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि (स्वजनेति) स्वजन-गोपियों का हृदयरोग काम है, उस कामरूप का निरन्तर नाश जिस वस्तु से हो, उस वस्तु को स्थापन करो।

आप कितने ही का पाप नाश करनेवाले हो, और कितने ही को फल देनेवाले हो, इसलिये इस प्रकार के आप हमारे रोग का नाश करो, यह हमारी प्रार्थना है।

मूल सुबोधिनी में 'एतादृश' शब्द कहा है, इससे हृदय के रोगों का सूदन-नाशन-जिस वस्तु से हो, उस प्रकार की वस्तु हमारे में स्थापन करो, इस प्रकार की वस्तु आपका स्वरूप ही है, गोपनीयहोने से गोपियों ने गुप्त प्रकार से प्रार्थना की है ॥ १८ ॥

(सुबो०) काचिद्राजसतामसी सखेदमाह—यत्त इति।

अब कोई राजस तामसी अनन्यपूर्वा गोपी खेदसहित कहती है।

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु भीताः
शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।

तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किं स्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः ॥ १९ ॥

इति श्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे अष्टाविंशतितमोऽध्यायः ॥

पदपदार्थ—(हे प्रिय) हे प्यारे (ते) आपका (यत्) जो (सुजातचरणाम्बुरुहं) सम्यक् प्रकार से उत्पन्न चरणकमल को (भीताः) डरती हुई हम (कर्कशेषु) कठिन (स्तनेषु) स्तनों में (शनैः) धीरे (दधीमहि) धारण करती हैं। (तेन) उस कोमल चरण से (अटवीं) वन में (अटसि) आप फिरते हो इससे (भवदायुषां) आप की लीला के लिये ही जीवन-वाली (नः) हमारी (धीः) बुद्धिः (भ्रमति) भ्रम को प्राप्त होती है (किं स्वित्) उत्प्रेक्षा में, हम इस बात को जानना चाहती हैं कि क्या (कूर्पादिभिः) कंकर आदि से (तद्) वह आपका कोमल चरण (न) नहीं (व्यथते) दुःख पाता है, अर्थात् दुःख पाता ही है ॥ १९ ॥

भावार्थ—हे प्यारे आपका सम्यक् प्रकार से उत्पन्न हुआ जो चरण कमल है, उसको डरती हुई हम कठिन स्तनों में धीरे से धारण करती हैं, और आप उसी अति कोमल चरण कमल से इस समय वन में फिरते हो इससे आपकी लीला के लिये ही आयु-जीवन जिनका इस प्रकार की हम गोपियों की बुद्धि भ्रमित होती है, कि कंकड़ आदि से आपके कोमल चरणों में क्या व्यथा नहीं होती है, अर्थात् होती ही है ॥ १९ ॥

(सुबो०) सुजातं यच्चरणाम्बुरुहं चरणकमलं भीताः सत्यः स्तनेषु शनैर्दधीमहि । शनैर्धारणे हेतुः कर्कशेष्विति । प्रियेति सम्बोधनात् स्नेहाद्धारणम् । सुजातमिति तथा महत् सम्यक्प्रकारोत्पन्नं शीतलं सुगन्धि तापनाशकं भवति । अतः स्तनेषु स्थापनम् । प्रियत्वात् धार्ष्ट्येन स्थापनम् । तेनैवातिकोमलेन अस्मान् त्यक्त्वा अस्मद्दोषेण इदानीमटवीमटसि । स्वयमदुःखेन स्थित्वा यद्यन्यस्मै दुःखं दातुं शक्नुयात्, तर्हि प्रयच्छेत्, न तु स्वयमपि दुःखं प्राप्य । तत्रास्माकं संदेहः, किं व्यथते तवेति । स्विदित्युत्प्रेक्षायाम् । किं न व्यथते, अपितु व्यथत एव । कूर्पादिभिः शर्करादिभिः । कूर्पशब्देन विषमाः शर्करा उच्यन्ते । तर्हि व्यथत एव, कथमुत्प्रेक्ष्यते, तत्राह भ्रमति धीरिति । बुद्धिः केवलं परिभ्रमति । यदि व्यथत इति निश्चयः स्यात्, तदा बुद्धिः शान्तैव भवेत् । पुनर्यदा याति तेन संदेहः । तत्र हेतुः भवदायुषामिति । भवल्लीलार्थमेवायुर्येषाम् । पूर्वं तु खेदेन मनःपीडा निरूपिता इदानीं तु मूर्च्छा निरूप्यत इत्यन्तःस्थितिः । एवं सर्वासां मूर्च्छापर्यन्तं स्थितिर्ज्ञातव्या । पुनर्लीलाप्रवेशे प्रलापः, पुनः स्वरूपस्थितौ गानमिति । एवंसाधनपरीक्षयोर्यावत्, तावत्तासां तापो निरूपितः ॥ १९ ॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणेऽष्टाविंशाध्यायविवरणम् ।

सुजात जो आपका चरणकमल, उसको डरती हम स्तनों में धीरे से धारण करती हैं, आपका चरणकमल जो धीरे से गोपियां धारण करती हैं, उसका कारण बतलाती हैं, 'कर्कशेषु'।

हमारे स्तन कर्कश-कठोर हैं, हे प्रिय इस सम्बोधन से सूचन करती हैं कि भगवान् का चरणकमल गोपियां अपने स्तनों में स्नेह से धारण करती हैं, आपका चरणकमल सुजात है, उसी प्रकार महत् है, जिस प्रकार कमल सम्यक् प्रकार से उत्पन्न शीतल सुगन्धि तापनाशक होता है, उसी प्रकार आपका चरणकमल सम्यक् प्रकार से उत्पन्न शीतल सुगन्धि तापनाश करने वाला है, इसलिये हम स्तनों में स्थापन करती हैं।

भगवान् गोपियों के प्रिय हैं, इसलिये गोपियां चरणकमल धृष्टता से स्थापन करती हैं, उसी अति कोमल चरण से आप हमको हमारे दोष से त्याग करके इस समय वन में डोलते हो।

जो कोई स्वयं दुःखरहित स्थित होता है, और वह यदि दूसरों को दुःख देनेका सामर्थ्य वाला होता है तो दूसरों को दुःख देता है।

और जो स्वयं ही दुःखी होता है, तो वह दूसरों को दुःख नहीं देता है, इसलिये हमको संदेह होता है कि आपको दुःख होता है, अथवा नहीं होता है, (स्वित्) यहां उत्प्रेक्षा अर्थ में है, क्या आपको दुःख नहीं होता है, अर्थात् दुःख होता ही है।

कूर्प आदि से कंकड़ आदि से, कूर्प शब्द से विषम कंकड़ कहे जाते हैं।

यदि कहो कि विषम कंकड़ आदि से भगवान के चरणकमल में दुःख होता ही है तो फिर उत्प्रेक्षा क्यों करती हो।

तब इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि (भ्रमति धीः) हमारी बुद्धि केवल परिभ्रमण करती है।

यदि हमको भगवान् का चरण व्यथा को प्राप्त होता है, इस प्रकार निश्चय होता, तो बुद्धि शान्त ही हो जाती, अर्थात् हमको मूर्च्छा ही हो जाती, विषम कंकड़ों से चरणों में व्यथा होती है, यह बात प्रसिद्ध ही है, इसलिये हमको भगवान के चरणों में व्यथा होने का ज्ञान है, किन्तु, व्यथा होते भी फिर जो आप वन में पधारते हो, इससे हमको व्यथा नहीं होती है, इस प्रकार का ज्ञान होता है, नहीं तो यदि आपको वन में पधारने से व्यथा होती हो तो, फिर आप वन में नहीं पधारें, इस प्रकार उभय कोटि अवगाही ज्ञान संशय उत्पन्न करता है।

इस प्रकार से हमारी बुद्धि परिभ्रमण करती है, उस प्रकार को गोपियां बतलाती हैं (भवदायुषां) आपकी लीला करने के लिये ही आयु-जीवन जिनका इस प्रकार की हम हैं।

पहले ग्यारहवें श्लोक में 'शिलतृणाङ्कुरैः' इस पद से भगवान के चरणकमल में पत्थर तृण-कुश आदि से क्लेश प्राप्त होता है, इस बात को जानकर गोपियों के मन में पीडा का निरूपण किया है, इस समय इस श्लोक में मूर्च्छा निरूपण की है, कारण कि गोपियों की बुद्धि भ्रमित हो गई है, मूर्च्छा नवम अवस्था है, इसलिये उक्त अवस्था से आगे अन्य अवस्था नहीं है, यहां पर अन्तिम अवस्था का वर्णन किया है, इसलिये पुनरुक्ति दोष भी नहीं है।

इस प्रकार सब गोपियों की मूर्च्छा पर्यन्त स्थिति जाननी चाहिये। गोपियों में लीला सहित भगवान प्रविष्ट हैं, इस बात को पहले कह आये हैं, अतः किसी समय गोपियों की लीला में स्थिति होती है, फिर जब गोपियों की लीला में स्थिति होती है तब प्रलाप-प्रश्न करती है, प्रश्न अन्तरङ्ग है, इसलिये प्रलाप-प्रश्न के कथन से सत्ताईसवें अध्याय में कहे रसासक्ति, हरेः क्रिया, और गर्वाभाव, इन तीनों का वर्णन किया गया है। इस प्रकार जानना चाहिये।

इस २८ वें अध्याय में गोपियों की स्वरूप में स्थिति होने से गान कहा है, इस प्रकार गोपियों की विरहावस्था में भगवान लीलासहित प्रविष्ट हैं, इसलिये रसासक्ति, हरि की क्रिया, और गर्व का अभाव, ये तीन, तथा भगवान के स्वरूप में स्थिति होने से गान, इन चारों की गोपियों में बारंबार आवृत्ति होती रहती है, इस प्रकार निरूपण करने से भगवान की प्राप्ति में भक्तों को साधन की जितनी पराकाष्ठा करनी चाहिये, उतनी यहां पर कही है, और भगवान भक्तों के स्नेह की परीक्षा करते हैं, उस परीक्षा में जितनी स्नेह की पराकाष्ठा है, उतनी यहां पर कही है, अब उपसंहार करते हैं, (एवं साधनेति)

यहां पर उक्तरीति से साधन और परीक्षा का जितना स्वरूप है, उतना स्वरूप गोपियों के ताप का निरूपण किया है ॥ १९ ॥

इति श्री भागवत सुबोधिनी श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मज श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचित दशमस्कंध-
अट्ठाईसवें अध्याय का उपलब्ध साहित्य सहित मथुरास्थ जगन्नाथ चतुर्वेदीकृत
भाषा विवरण पूर्ण हुआ ॥ श्री हरिः ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

(श्रीमद्भागवत सुबोधिनीफलप्रकरण चतुर्थ २९)

फल प्रकरण के २९ वें अध्याय का प्रारम्भ करते हैं।

(सुबोधिनीकारिका)

एकोन त्रिंशकेऽध्याये प्रसादं भगवत्कृतम् ।
रोदनात् प्राप्य तुष्टास्ता निर्णयज्ञा इतीर्यते ॥ १ ॥
नहि साधनसम्पत्त्या हरिस्तुष्यति कस्यचित् ।
भक्तानां दैन्यमेवैकं हरितोषणसाधनम् ॥ २ ॥
सन्तुष्टः सर्वदुःखानि नाशयत्येव सर्वतः ।
अतो निर्णयवाक्यानि भजनार्थं न्यरूपयत् ॥ ३ ॥

'तासां' तत्सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः । प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत' ॥४८ ॥

इस २९ वें अध्याय के अन्तिम श्लोक में कहा है कि गोपियों को सौभगमद और मान हुआ, तब भगवान इनका प्रशमन करने के लिये, तथा गोपियों के ऊपर प्रसाद करने के लिये अन्तर्हित हो गये।

अनन्तर गोपियों ने अनेक साधन किये, किन्तु भगवान् प्रकट नहीं हुए, उस समय गोपियां रुदन करने लग गयीं।

जिस समय मनुष्य किसी कार्य को करने के लिये अत्यन्त साधन करता है, और फिर भी जब वह कार्य सिद्ध नहीं होता है, तब उसका साधनाभिमान दूर होकर निःसाधन हो दीन हो जाता है, रुदन करता है, उसी समय वह भगवान् की कृपा का पात्र हो जाता है, अर्थात् उसके ऊपर भगवान् कृपा करते हैं, इसी बात को २९ वें अध्याय में कहते हैं कि 'एकोन त्रिंशकेऽध्याये' इस २९ वें अध्याय में भगवान् ने प्रकट होकर गोपियों के ऊपर प्रसाद किया है, अर्थात् अपना हस्त स्पर्श आदि करके प्रसाद किया है।

पहिले गोपियां मानिनी थीं, इनके भीतर भगवान् प्रविष्ट हो इनका अभिमान दूर करके रोदन रूप अलौकिक प्रकारसे प्रसन्न हुए हैं, फिर गोपियों ने 'भजतो नु भजन्त्येके' इत्यादि वाक्यों से भगवान् के प्रति प्रश्न किये, और भगवान् के 'मिथो भजन्तियेसख्यः इत्यादि उत्तर वाक्यों से गोपियों को निर्णय का ज्ञान हो गया, यह सब प्रसङ्ग इसे उनतीसवें अध्याय में कहा है ॥ १ ॥

भगवान् गोपियों का मान दूर अन्य प्रकार से भी कर सकते हैं, फिर भगवान् को रोदन प्रकार पर्यन्त गोपियों की परीक्षा करनी उचित नहीं थी, यदि इस प्रकार शंका करो तो।

जिस प्रकार छब्बीसवें अध्याय के आरम्भ में कारिका ९ नवम 'आत्मायावत्प्रपन्नोऽभूत्' इसमें श्री महाप्रभुजी ने शास्त्रमर्यादा कही, उसी प्रकार भगवान् के आविर्भाव में भी शास्त्रमर्यादा है, इस आशय से दूसरी कारिका कहते हैं 'न हि साधन सम्पत्त्या'।

'मैं अमुक साधन से भगवान् को प्राप्त हो जाऊंगा, इस प्रकार जानकर जो कोई साधन करता है, तो उस साधन से भगवान् कभी किसी के ऊपर प्रसन्न नहीं होते हैं, भक्तों को तो भगवान् के प्रसन्न करने में एकदैन्य ही साधन है।

जिस समय गोपियों में मदमान के कारण भगवान् तिरोहित हो गये उस समय गोपियों ने भगवान् के मिलने के लिये साधन बुद्धि से प्रलाप रूप प्रश्न, तथा गान किया, किन्तु भगवान् प्रकट नहीं हुए, उस समय साधन करते करते गोपियाँ हार गईं, और निःसाधन हो दीन होकर रुदन करने लग गईं, दैन्यसाधन से भगवान् प्रसन्न हो गये।

गोपियों का दैन्य स्वतः साधन रूप हो गया, कारण कि साधनत्व से जानकर किये गये साधनों को साधन सम्पत्ति कहते हैं।

पहले किये गये गोपियों के साधन प्रलाप तथा गान जिस समय व्यर्थ हो गये, उस समय गोपियों में दीनता आगई, और दीनता से रुदन करने लग गईं, यह रुदन स्वतः ही साधन बन गया, गोपियों का रुदन भगवान् के प्रसन्न होने में साधन है, इस प्रकार जानकर नहीं किया, यदि गोपियां रुदन को भी साधनबुद्धि से करतीं, तो भगवान् प्रसन्न नहीं होते, अतः जिस प्रकार भगवान् के तिरोधान में शास्त्रमर्यादा है, उसी प्रकार भगवान् के आविर्भाव में निःसाधन होकर जीव में जब तक दैन्य भाव नहीं आता है, तब तक भगवान् का आविर्भाव नहीं होता है ॥ २ ॥

अब आगे भगवान् ने गोपियों से जो निर्णय कहा है, उसका कारण श्रीमहाप्रभुजी तीसरी कारिका में कहते हैं।

'संतुष्टः सर्व दुःखानि' भगवान् जिस समय प्रसन्न हो जाते हैं, उस समय सब प्रकार से दुःख का नाश निश्चय हो जाता है, अतः गोपियों का सर्वांश से दुःख का नाश करने के लिये, तथा परोक्ष भजन प्रतिपादन करने के लिये 'मिथोभजन्ति' इत्यादि निर्णायकवाक्य भगवान् कहे हैं।

पुष्टिमार्ग में दुःख आनन्द के अभाव को कहते हैं। प्रतियोगी-आनन्द से आनन्दाभाव-दुःख का नाश निश्चय होता है।

जिस समय आनन्दमय प्रभु भक्त के ऊपर प्रसन्न होता है, उस समय प्रकट होता है, आनन्दमय स्वरूप के प्रकट होने पर भक्तों का समग्रदुःख नष्ट हो जाता ही है, इस बात को कारिका में 'एव' शब्द बतला रहा है, कि आनन्दमय भगवान् के प्राकट्य से भक्तोंका सब दुःखनाश हो जाता है, यदि इस बात को नहीं मानते तो इतने काल पर्यन्त भगवान् तिरोहित हो हमको छोड़कर दुःखी करके चले गये थे, इस प्रकार का दुःख व्रजवधुओं के हृदय कमल से नहीं जाता, किन्तु भगवान् के दर्शन करते ही सर्वगोपियों का दुःख नष्ट हो गया, और जो कुछ शेष रह गया था, वह भगवान् के निर्णय वाक्यों से नष्ट हो गया ॥ ३ ॥

(सुबो०) एवं पूर्वाध्यायान्ते तासां स्तुतिमुक्त्वा, ततः पूर्वाध्याये तासां प्रलापमुक्त्वा, उभयमप्युपसंहरत् तयोरसाधनतायां जातायां रोदनं कृतवत्य इत्याह इतीति।

इस प्रकार पहले २८ वें अध्याय में गोपियों ने भगवान् की स्तुति की, और इससे पहले सत्ताईसवें अध्याय में गोपियों ने प्रलाप-प्रश्न किया, इसका वर्णन करके अब स्तुति तथा प्रलाप दोनों का उपसंहार करते शुकदेवजी स्तुति, प्रलाप दोनों जिस समय भगवान् की प्राप्ति नहीं करा सके, उस समय गोपियां रुदन करने लग गईं, इस बात को आगे श्लोक में कहते हैं।

इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा।
रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः ॥ १ ॥

पदपदार्थ—(हे राजन्) हे परीक्षित (इति) पूर्वोक्त प्रकार से (प्रगायन्त्यः) गान करतीं (च) और (चित्रधा) अनेक प्रकार से (प्रलपन्त्यः) प्रलाप करतीं (कृष्णदर्शनलालसाः) कृष्ण के दर्शन की इच्छा वाली (गोप्यः) गोपियां (सुस्वरं) सुन्दर स्वर से (रुरुदुः) रुदन करने लग गईं ॥ १ ॥

भाषार्थ—हे राजन् पूर्वोक्त प्रकार से गान करती तथा अनेक प्रकार से प्रलाप करती श्री कृष्ण के दर्शन की इच्छावाली गोपियाँ सुस्वर रुदन करने लग गईं ॥ १ ॥

(सुबो०) पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वा एव गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च जाताः। अस्माभिरेकः प्रकार उक्तः। तस्तु चित्रधा विलापयुक्ता जाताः। यदा तयोरसाधनत्वं जातम् तदा सर्वाः सम्भूय महद्रोदनं कृतवत्यः। रोदने निमित्तमाह कृष्णदर्शनलालसा इति। न तु स्वदेहरक्षार्थम् ॥ १ ॥

पूर्वोक्त प्रकार से सभी गोपियां गान तथा प्रलाप करने लगीं, शुकदेव जी कहते हैं कि हमने तो यहां गान, प्रलाप का एक प्रकार कहा है, किन्तु गोपियां तो अनेक प्रकार से विलापयुक्त हो गईं, जिस समय गान और प्रलाप भगवान् की प्राप्ति नहीं करा सके, उस समय गोपियों ने उक्त दोनों साधन भगवत्प्राप्ति में असाधन जान लिये, अर्थात् इन साधनों से भगवान् नहीं मिलेंगे, साधनरहित एकत्रित होकर गोपियां महान् रुदन करने लग गईं।

गोपियों के इतने जोर से इकट्ठे होकर रुदन करने में शुकदेव जी कारण बतलाते हैं कि (कृष्णदर्शन लालसाः)।

गोपियों को कृष्णदर्शन की अभिलाषा थी, इसलिये रुदन किया, अपने देह की रक्षा के लिये रुदन नहीं किया ॥ १ ॥

(सुबो०) ततो भगवान् ब्रह्मा विष्णू रुद्रश्च भूत्वा पुनः कृष्ण एव जात इत्याह तासामाविरभूदिति।

इसके अनन्तर भगवान् ब्रह्मा, विष्णु, तथा रुद्र होकर पुनः कृष्ण हो गये, अर्थात् ब्रह्मा आदि का कार्य, उत्पत्ति, रक्षा और उपसंहार करके पुनः सदानंद हो गये, इस बात को आगे श्लोक में कहते हैं।

अब 'ब्रह्मा विष्णू रुद्रश्च' इसका आशय श्री विट्ठलनाथजी टिप्पणी में इस प्रकार बतलाते हैं।

भगवान् किस प्रकार से ब्रह्मा विष्णु रुद्र होकर पुनः कृष्ण ही हो गये, प्रथम ब्रह्म कल्प में भगवान् ही ब्रह्मा-चतुर्मुख हुए थे, और पहिले आपने तप किया था।

'स वाच्यवाचकतया भगवान् ब्रह्मरूपधृक्। नामरूपक्रिया धत्ते' इस वाक्य से तथा 'शब्द ब्रह्मेति यं विदुः' इस वाक्य से भगवान् ने शब्द तथा अर्थ रूप से ब्रह्मरूप धारण करके नामरूप क्रिया धारण की, तत्त्व चिन्तन करनेवाले जिस परमात्मा को शब्द ब्रह्म जानते हैं, फिर वाच्य वाचक रूप भगवान् ने शब्द सृष्टि, अर्थ सृष्टि करके इस सृष्टि में अपने स्वयं प्रवेश करके सब कार्य किया, और स्वयं रजोगुणरूप रहे।

प्रकृत-चालू गोपियों के प्रसङ्ग में भगवान् प्रथम रजोगुणरूप कामरूप से प्रकट हुए, फिर नामरूप से, फिर विविधगान प्रलापरूप से फिर विविध लीलारूप से प्रकट हुए, इस प्रकार भगवान् ने प्रथम रजोगुण रूप-ब्रह्मा का रूप धारण करके रजोगुण का कार्य किया है, इसलिये ब्रह्मा हुए।

विष्णु स्वयं विक्षेपरहित शुद्धसत्त्वात्मक है, जिस प्रकार से जिस जीव का पालन हो सकता है, उसी प्रकार से उसका पालन करता है।

प्रकृत-लीला प्रसङ्ग में गोपियां अपनी सखी के वचन सुनकर 'हमारे दोष से ही प्रियभगवान् चलेगये हैं' इस प्रकार के ज्ञान से चित्त विक्षेप छोड़कर पुनः अपने पूर्व स्थान यमुनातट पर स्थित होकर, अपने जीवन के लिये अपने अपने भाव प्रकट करतीं प्रभु का गुणगान करती हुई इस प्रकार गोपियों के भावरूप भगवान् ने गोपियों का पालन करने के लिये विष्णुरूप धारण किया, इसलिये विष्णु हुए।

'यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' रुदन करने से रुद्र कहलाया। इस श्रुति के अनुसार भगवान का रुद्रस्वरूप स्पष्ट ही है।

रुद्र का इतिहास श्रुति में इस प्रकार है कि देवता अपना धन अग्नि में रखकर जिस समय संग्राम करने के लिये गये, उस समय अग्नि, देवताओं के धन को लेकर भग गया, पीछे देवताओं ने बलात्कार से जिस समय अग्नि से अपना धन ले लिया, उस समय दुःख से अग्नि ने रुदन किया, इसलिये अग्नि रुद्र कहलाया।

प्रकृत गोपियों के प्रसङ्ग में अपने भोग के लिये भगवान् ने स्वामिनियों को जो किसी के भी देने योग्य नहीं, उस प्रकार का अपना रस दिया, और स्वामिनियों ने मान से वह रस अपने में ही निरुद्ध कर लिया, फिर जिस समय भगवान् ने स्वामिनियों का मान दूर किया, उस समय गोपियां निःसाधन हो अतिदैन्य प्रकट करती रोने लग गईं।

जिस प्रकार रुद्र सर्वनाशक है, उसी प्रकार गोपियों का यह दैन्यपूर्वक रुदन भाव शास्त्रप्रतिपादित समग्र साधन बल का नाशक है, कारण कि जहां तक जीव में अपने साधन बल की स्फूर्त्ति रहती है, वहां तक दैन्यपूर्वक रुदनभाव उदय नहीं होता है, और भगवान् का प्राकट्य भी नहीं होता है, जिस समय दैन्यपूर्वक रुदनभाव उदय हो जाता है, उसी समय साधन बल की स्फूर्त्ति का नाश होकर प्रभु का प्राकट्य हो जाता है, सब का नाश करना, तथा रुदन करना रुद्र का कार्य है गोपियों का भी सर्व साधन स्फूर्त्ति का नाश हो गया, और गोपियों ने दैन्यपूर्वक रुदन किया, यह सब कार्य भगवान ने रुद्ररूप धारण करके तमोगुण का कार्य किया है। इसलिये भगवान् रुद्र हुए।

'कृषिर्भूवाचकः' इस वाक्य से कृष धातु सत्ता वाचक है, तथा 'ण' आनन्दवाचक है, इन दोनों का ऐक्य करने से कृष्ण' शब्द बनता है, इसका अर्थ सदानन्द परब्रह्म होता है, उक्त वाक्यानुसार यद्यपि सदैव ही भगवान् कृष्ण शब्द वाच्य है, तथापि गोपियों में दैन्यपूर्वक रुदनभाव का उदय होने पर तुरन्त उसी क्षण में यदि भगवान् प्रकट नहीं होते तो भक्तों का देह आदि रह नहीं सकता है, कारण कि सबका नाश करनेवाला दैन्यभाव जिस समय गोपियों में प्रकट हुआ, उस समय गोपियों में पहले जो देहादि में सत्त्व-अस्तित्व था, उसका नाश हो गया, इसलिये भगवान् कृष्ण-सदानन्द स्वयं प्रकट होकर अपना स्वरूपात्मक सत्त्व-सत्ता तथा आनन्द को गोपियों में स्थापन करते हैं, इसीलिये आभास में श्री महाप्रभुजी ने इस समय प्रकट स्वरूप को कृष्ण हुए, इस प्रकार कहा है।

अब 'आभास में 'ब्रह्मा विष्णू रुद्रश्च भूत्वा पुनः कृष्ण एव जातः' इस पर स्वतन्त्र लेख है, उसका भाषानुवाद कहते हैं।

यहां इस प्रकार आशय कृपा से मालूम होता है कि भगवान् का रूप तीन प्रकार का है, नामरूप तथा रस भेद से, उसमें नामात्मक भगवान् का रूप वेदात्मक शब्द 'ब्रह्म' है, रूपात्मक

अवतार रूप है, और रसात्मक भाव रूप है, इन तीनों प्रकार के रूपों में ब्रह्म अनन्त मूर्ति होने से अनन्त भेद हैं।

जिस प्रकार विश्वात्मक वैकुण्ठवासी के अवतरण में अवतार भेद से अनन्त मूर्त्तियां हैं, उसी प्रकार एक वेद की अनन्त शाखा भेद से अनन्त मूर्तियां हैं और वे मूल के समान हैं, कारण कि प्रकार भेद होने पर भी उनमें वेदत्व है।

अथवा जिस प्रकार रूपात्मक अवतारों को समानता है, उसी प्रकार स्थायी भावात्मक भगवान् को भी भक्त हृदयगत भाव भेद से आनन्द मूर्तित्व है, भगवान् की समानता नहीं है, केवल प्रकार मात्र का भेद है, जिस प्रकार अवताररूपों में मत्स्य आदि प्रकार हैं।

उक्त रीति से स्वामिनियों में जो भाव हैं, वे सब आनन्द रूप होने से रसात्मक भगवान् ही हैं, इस प्रकार से भगवान् स्वयं मानभाव से प्रकट होते ब्रह्मा हो गये।

फिर अपने जन की रक्षा करने के लिये गुण गान हेतु भूत भाव से प्रकट होते विष्णु हो गये।

फिर उस समय रोदनात्मक होते सर्वनिरास करनेवाले प्रलयकर्त्ता रुद्र हो गये।

इसके अनन्तर परमदैन्य से संतुष्ट हुए भगवान् अपनी सत्ता तथा अपना आनन्द भक्तों में प्रकट करके सदानन्द कृष्ण ही हो गये, इस प्रकार अर्थ है, इसमें यहां गुप्त बात इस प्रकार है कि सत्ता दो प्रकार की होती है, जीवसत्ता, तथा भगवान् की सत्ता, उसमें जीवसत्ता परिच्छिन्न है और भगवान् की सत्ता अपरिच्छिन्न है, अर्थात् निरावरण है, इसीसे जीवसत्ता एक जगह विद्यमान रहती है, और एक जगह विद्यमान भी पर में नहीं जाती है, और भगवान् की सत्ता पर में भी जाती है, इसलिये भगवान् की सत्ता और जीव की सत्ता तुल्य नहीं हैं, पहले जीवों में अपनी सत्ता ही स्थित थी, प्रभु की सत्ता नहीं थी, इसलिये भगवान् की तरह गोपियों का सर्व आविर्भाव आदि में सामर्थ्य नहीं था, इस समय तो अत्यन्त दुःख से गोपियों में जो अपनी सत्ता थी, उसका भी तिरोधान हो गया, इसलिये भगवान् ही सरस यशस्वी ने कृपा करके प्रकट होकर अपनी सत्ता तथा अपना आनन्द गोपियों में स्थापन किया, अतः सदानन्द प्रकट करने से कृष्ण ही हो गये, इस आभास में एवकार सूचन करता है कि जिस समय सदानन्द कृष्णरूप प्रकट हुआ, उस समय पूर्वरूप ब्रह्मा आदि का तिरोधान हो गया, कारण कि मानभाव आदि का तिरोधान हो गया था।

अब गोपियों का स्वरूप यहां से आगे भगवद्रूप आदन्दमात्र सर्वत्र विद्यमान भक्ति से आविर्भाव करने वाला सदा भगवत्सहित मानना चाहिये, इसीसे प्राकट्य में इसी स्वरूप को हमारे आचार्यों ने कहा है।

'तासां मध्यएव भगवानाविर्भूतः' गोपियों के मध्य में ही भगवान् प्रकट हुए हैं।

इसका अर्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार काष्ठ के भीतर रहा अग्नि अपने आच्छादन करनेवाले को दूर करके प्रकट होता है, तथा काष्ठ को अपना स्वरूपभूत करता है, और उस काष्ठ का आकार जिस प्रकार का होता है, उसको उसी प्रकार का स्थापन करता है, उसी प्रकार भगवान् भी गोपियों के भीतर स्थित कृपा करके अपना आधार मायारूप परदा को दूर करके गोपियों में स्वयं ही प्रकट हुए, शरीर, इन्द्रिय आदि गोपियों के ही थे।

इस प्रकार कथन से यहां से आगे आविर्भूत भगवत्स्वरूपात्मिका गोपियां हैं, इस प्रकार निरूपण किया है, इसीसे गोपियों की सेवा करने से भगवान् की सेवा हुई होता है, इसी तरह हमारे आचार्यों में भी तथा उनके आत्मजों में भी जानना चाहिये।

भगवान् का आगमन तो जिस स्वरूप से रमा के साथ रमण किया, उस पूर्व रूप से ही हुआ है, भगवान् का आविर्भाव गोपियों के रसात्मक भाव के उत्तर हुआ है, इसलिये पहले स्वरूप को अधिष्ठान करके फिर मिश्र रूप की सिद्धि से, उसी प्रकार का रमण किया है, पश्चात् भ्रमरगीत प्रसङ्ग में केवल रसात्मक भगवान् की स्थिति है, इस प्रकार यह स्वतन्त्र का भाषानुवाद है।

तासामाविरभूत् शौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः ।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥ २ ॥

पदपदार्थ—(तासाम्) गोपियों के मध्य में (स्मयमानमुखाम्बुजः) स्मयमान मुख कमलवाला (पीताम्बरधरः) पीताम्बरधारी (स्रग्वी) माला धारण करनेवाला (साक्षान्मन्मथमन्मथः) साक्षात् कामदेव का कामदेव (शौरिः) शूर का नाती भगवान् (आविरभूत्) प्रकट हो गया ॥ २ ॥

भाषार्थ—इस प्रकार रुदन करती हुई गोपियों के मध्य में स्मयमान मुख कमल वाला, पीताम्बरधारी, वनमाला धारण करने वाला, साक्षात् कामदेव का कामदेव शूर का नाती भगवान् प्रकट हो गया ॥ २ ॥

(सुबो०) तासां मध्य एव भगवानाविर्भूतः । मायां जवनिकां दूरीकृत्य भगवान् प्रकटो जातः । यतः शौरिः । शूरस्य पौत्रः । शौर्यमत्र प्रकटनीयमिति । सर्वेषां दुःखनिवारणार्थमेव यदुवंशेऽवतीर्ण इति । तदा तासां दोषनिवृत्यर्थं स्मयमानं मुखाम्बुजं यस्य । ईषद्धसन्मुखः । तासां वैक्लव्येन सन्तुष्टः । स्मितयुक्तं स्मयमानम् । स्मयमानाभ्यां वा सहितं मुखाम्बुजं यस्य । भक्तानां दोषः भक्तेभ्यो निर्गतः भक्तौ समायातीति ज्ञापनार्थम् । तदानीन्तनं रूपं वर्णयति पीताम्बरधर इति । पीताम्बरं हास्यसंकोचार्थं हस्ते धृत्वा तिष्ठति । अथवा । व्यापिवैकुण्ठरूपेण एतावत्कालं लक्ष्म्या सह रमणं कृत्वा तेनैव रूपेण प्रादुर्भूतः । स्रग्वी वनमालायुक्तश्च । मध्ये ब्रह्मादिपूजां च गृहीतवान् । लक्ष्म्या वा । अतो विलम्ब इत्यपि सूचितम् । अत एव प्रथमश्लोके पूर्वाध्याये 'श्रयत इन्दिरे' त्युक्तम् । इदानीं तु उपेक्षा कर्तुमयुक्तेति प्रादुर्भूतः । अत आगमनमुक्तमग्रे । ('यद्वा । तत्र हेतुमाह विशेषणद्वयेन । इदानीमनाविर्भावे तु न रसो, न वा कीर्तिः । स्वयं त्वाच्छादनेन रसत्वसाधकपीताम्बरधरः कीर्तिमयः स्रग्वाँश्च । अतः प्रकट इति भावः) ननु कन्दर्पेण कथं न वशीकृतः स्वापृतना खिन्नेति, तत्राह । साक्षान्मन्मथस्यापि मन्मथः । आधिभौतिको मन्मथः देवतारूपः । तत आध्यात्मिकः सर्वहृदयेषु साक्षान्मन्मथः । तस्याप्ययं मण्डलथः आधिदैविकः । सर्वस्यापि सर्वत्वात् । अतः कन्दर्पोऽपि मुग्धः । कन्दर्पस्याप्य शक्यमोहः । कंदर्परूपश्च अतस्तासां

१. चिह्नान्तर्गतं प्रभूणामित्यस्मन्मतिः ।

दैन्ये प्रादुर्भूते तन्निवारणार्थं कामरूपमेव प्रकटीकृतवान् । अतस्तेन पूर्ववत् कामसंपन्नाः ताः कृताः ॥ २ ॥

रुदन करती हुईं गोपियों के मध्य में ही भगवान् प्रकट हो गये, मायारूप परदा को दूर कर भगवान् प्रकट हो गये, इसमें कारण कहते हैं कि आप शूर के नाती है, इसलिये शूरता यहां प्रकट करनी ही चाहिये थी।

प्रथम अट्ठाईसवीं अध्याय में 'सुरतवर्धनं' इत्यादि चौदहवें श्लोक में भगवान् को दानवीरत्व कहा गया है, जिस वस्तु का कोई भी दान नहीं कर सकता, उस वस्तु का भगवान् दान करे, तो तभी दानवीरत्व प्रकट होगा, इसलिये शुकदेवजी इस श्लोक में 'शौरि' पद का प्रयोग करते हैं, भगवान् को भी इस समय अपनी शूरता बतानी चाहिये, कारण कि भगवान् सब का दुःख निवारण करने के लिये ही यदुवंश में अवतीर्ण हुए हैं।

जिस समय गोपियों के मध्य में भगवान् प्रकट हुए, उस समय पहिले अट्ठाइसवीं अध्याय में कहा 'निजजनस्मयध्वंसनस्मित' इस श्लोक में तीन प्रकार दोषनिवर्तक कहे हैं, इसलिये तदनुसार गोपियों के दोष निवृत्त करने के लिये मंद मुसुकान करते भगवान् प्रकट हुए, स्मयमान मन्द मुसुकान कर रहा 'मुखाम्बुज-मुखकमल जिसका अर्थात् प्राकट्य समय कुछ हँसता हुआ भगवान् का मुख था, गोपियों की दैन्ययुक्त विकलता से भगवान् सन्तुष्ट हो गये, इसलिये स्मयमान—स्मितयुक्त अथवा स्मय और मान सहित मुखकमल जिसका, इस दूसरे पक्ष में स्मय-मन्दमुसुकान और मान-अभिमान इस प्रकार 'द्वन्द्व समास' करके फिर मुखाम्बुज से समास करना चाहिये, स्मय और मानसहित मुखकमल जिसका है, इस प्रकार के भगवान् प्रकट हुए मुझ बराबर अन्य कोई नहीं है, इस प्रकार की गोपियां मेरी भक्त हैं, इस प्रकार का भगवान् को स्मय हुआ, और गोपियां यदि मेरी प्रार्थना करेंगी तो मैं और भी जो मेरे भक्त हैं, उनको इस रस का दान करूंगा। और जो प्रार्थना नहीं करेंगे तो मुक्तिदान करूंगा, इस प्रकार भगवान् को मान हुआ, इस प्रकार स्मय तथा मानसहित भगवान् का मुखकमल है, इसीसे भगवान् के मुख को अम्बुज-कमल कहा है, कारण कि कमल में सूर्य की किरणों के सम्बन्ध से विकसितता तथा सद्रस प्रकट होता है, यहां पर भगवान् के मुखकमल में विकसितता तथा सद्रस प्रकट करने के लिये गोपियों की प्रार्थना ही सूर्यकिरण सदृश है।

भक्तों का दोष भक्तों से निकल कर भक्ति में—अर्थात् भगवान् के मुखारविन्दरूपी भक्ति में प्राप्त होता है, इस बात को ज्ञापन करनेके लिये भगवान् का मुखकमल स्मय और मानसहित है।

विचार करनेसे निश्चय होता है कि भगवद्रसपान करनेके अनन्तर ही, इस प्रकार का भाव उत्पन्न होता है, इसलिये भगवान् का ही यह धर्म है भक्तिरूप भगवान् का मुख है, भक्ति का ही स्मय मान धर्म है, इसलिये भक्ति में ही आ गया है।

अब गोपियां प्रत्यक्ष जिस प्रकार का भगवान् का स्वरूप प्रकट हुआ था, उसका वर्णन करती हैं। (पीताम्बरधरः) भगवान् पीताम्बर धारण किये हैं।

पीताम्बर भगवान्, इतना ही कहते मूल में धारण शब्द कहने का तात्पर्य कहते है कि भगवान् हास्य संकोच करने के लिये पीताम्बर को हस्त में धारण करके स्थित है, वस्त्र से कुछ मुख आच्छादन करने से हास्य में संकोच होता है, यह प्रकार रसिकों के अनुकरण से सिद्ध है।

भगवान् मायारूप परदा को दूर करके गोपियों के मध्य में ही प्रकट हुए है, इस प्रकार अर्थ पूर्वपक्ष में कहा है, कारण कि 'मया परोक्षं भजता' इस २९ वे श्लोक में भगवान् ने स्वयं ही कहा है कि मैंने परोक्ष से तुम्हारा भजन किया है, इसलिये भगवान् गोपियों के पास ही स्थित है, किन्तु 'तं विलोक्यागतं' इस आगे के तीसर श्लोक में भगवान् का आगमन कहा है।

जिस रूप से भगवान् प्रथम नहीं विराजते थे, उस रूप से भगवान् का आगमन अवश्य कहना है, और यदि भगवान गोपियों के मध्य में ही विराजते हैं तो फिर भगवान् का आगमन होना सम्भव नहीं है, इसलिये यहां जिस रूप से भगवान् का आगमन हुआ है, उस रूप का वर्णन पक्षान्तर से श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि (अथवा, 'व्यापिवैकुण्ठरूपेण एतावत्कालं लक्ष्म्या सह रमणं कृत्वा तेनैव रूपेण प्रादुर्भूतः)।

अभी तक व्यापि वैकुण्ठ में पुरुषोत्तम स्वरूप से लक्ष्मीजी के साथ रमण करके, उसी स्वरूप से भगवान् इस समय गोपियों के मध्य में प्रकट हुए हैं।

यद्यपि भगवान् गोपियों के पास ही में थे, किन्तु तीसरे श्लोक में जो भगवान का आगमन कहा है, उसका आशय समझाने के लिये दूसरे पक्ष में इस प्रकार कहा है कि पहिले गोपियों के मध्य में भगवान् की स्थिति जिस रूप से नहीं थी, उस रूप से इस समय गोपियों के मध्य में भगवान् प्रकट हुए हैं, इसी दृष्टि से भगवान् का आगमन तृतीय श्लोक में कहा है, अर्थात् जिस रूप से भगवान् की स्थिति पूर्व नहीं थी, उस रूप से भगवान् की स्थिति गोपियों में इस समय हुई है, इसका नाम ही आगमन है।

व्यापि वैकुण्ठ में पुरुषोत्तम ही विराजते हैं, अंशादि नहीं, व्रज में तो 'श्रयत इन्दिरा' इस वाक्य से लक्ष्मीजी को कभी भी अवसर प्राप्त नहीं होता है, इस समय भगवान् ने विचार किया कि गोपियों का मान दूर करना है, और लक्ष्मीजी की आर्त्ति दूर करनी है, इस प्रकार दोनों कार्य एक समय में ही करने हैं, इसलिये तिरोहित हो गये और इस समय में लक्ष्मीजी के साथ रमण जिस स्वरूप से करते हैं, उस स्वरूप से करके, वह लक्ष्मीरमण स्वरूप और गोपीरमण स्वरूप दोनों एक हैं, इसलिये लक्ष्मीरमण स्वरूप के धर्मों को प्रकट करके भगवान प्रकट हुए हैं, इस आशय से यहां भगवान् का आगमन कहा है, अर्थात् जिन धर्मों के सहित इस समय प्रकट हुए हैं, वे सब धर्म पहिले जिस समय गोपियों में भगवान् थे, उस समय प्रकट नहीं थे, इस समय के प्राकट्य में समग्र धर्मयुक्त भगवान् का स्वरूप प्रकट हुआ है, इसलिये यहां इस समय इस प्रकार के समग्र धर्मों वाला भगवान के स्वरूप का आगमन कहा है, यह भाव है।

भगवान् 'स्रग्वी' वनमालायुक्त हैं।

वैकुण्ठ से आगमन समय मध्य में ब्रह्मा ने भगवान् का पूजन किया है, पूजा के समय समर्पित माला धारण करके पधारे हैं, इसलिये मूल में 'स्रग्वी' पद कहा है।

जहां-जहां भगवान् का अवतार होता है, वहां-वहां ब्रह्मा दर्शन करने को जाते हैं, इसलिये इस समय भी यहां भगवान् का अवतार हुआ है, अतः ब्रह्मा दर्शन के लिये गया, और भगवान् का पूजन किया, कारण कि यहाँ भी व्यापि वैकुण्ठ से भगवान् का इस समय अवतार हुआ है।

व्यापिवैकुण्ठ से भगवान् के प्रपञ्च में आगमन को अवतार कहते हैं, इसीलिये 'तासामाविर्भूत्' इस उक्त श्लोक में आविर्भाव कहा है।

अथवा लक्ष्मीजी ने पूजा करके भगवान को माला समर्पण की है, इसीसे भगवान को पुनः पधारने में विलम्ब हो गया, इस प्रकार भी सूचन किया है, इसीलिये प्रथम अध्याय २८ के प्रथम श्लोक में 'श्रयत इन्दिरा' यह कहा है।

भगवान् ने विचार किया कि लक्ष्मीजी की सेवा स्वीकार करने में मुझ को बहुत विलम्ब हो गया, अब भी यदि मैं गोपियों की उपेक्षा करूंगा तो फिर गोपियों का जीवन नहीं रहेगा, अतः इस समय गोपियों की उपेक्षा करना उचित नहीं है, इस प्रकार विचार करके भगवान् प्रकट हो गये इसलिये आगे श्लोक में आगमन कहा है।

अथवा, भगवान् के प्रकट होने में हेतु को 'पीताम्बरधरः', 'स्रग्वी' इन दोनों विशेषणों से तात्पर्यान्तर कहते हैं। 'यद्वा' भगवान् ने विचार किया कि यदि मैं इस समय प्रकट नहीं होता हूँ तो व्रजसुन्दरियों का तिरोधान हो जायेगा, और जब गोपियों का तिरोभाव हो जायेगा, तब न तो रस ही सिद्ध होगा, और न मेरी कीर्ति ही होगी, उलटी अपकीर्ति हो जायेगी, भगवान् को रस की अपेक्षा है, इसलिये रस की अपेक्षा सूचन करने के लिये भगवान् अपना प्रादुर्भाव ही किया।

पीताम्बर भगवान् के स्वरूप का आच्छादन करनेवाला है, रसगुप्त ही रसत्व को प्राप्त होता है, इस प्रकार रसशास्त्र की मर्यादा है।

वनमाला कीर्ति की अपेक्षा सूचन करनेवाली है, इसलिये भगवान् रस, तथा कीर्ति की अपेक्षा से प्रकट हुए हैं, अतः भगवान् ने पीताम्बर तथा वनमाला धारण की है।

भगवान् स्वयं आच्छादन करके रसत्व साधन करनेवाला पीताम्बर तथा कीर्तिमयी वनमाला धारण करनेवाले हैं, अतः इस प्रकार के स्वरूप से प्रकट हुए हैं, यह अर्थ है।

जो कहीं भगवान् रसत्वसाधक पीताम्बर तथा कीर्तिमयी वनमाला धारण करके गोपियों के बीच मे प्रकट न होते तो भक्तों का स्वरूप तिरोधान होने पर रस तथा कीर्ति का अभाव होना स्फुट ही है, यह भाव है।

यदि शंका करो कि अपनी सेना—गोपियां खिन्न हो जायगी, इस बात को जानकर कामदेव ने भगवान् को वश मे क्यों नहीं किया। इस शंका के उत्तर मे कहते हैं कि 'साक्षान्मन्मथमन्मथः। भगवान् तो साक्षान्मन्मथ के भी मन्मथ हैं।

मूल सुबोधिनीजी मे 'पृतना' शब्द कहा है, इसका आशय इस प्रकार है कि पृतना-सेना शत्रु पक्ष का नाश करती है, किन्तु दुःखी सेना शत्रु पक्ष का नाश नहीं कर सकती है, सुखी ही शत्रु पक्ष का नाश कर सकती है।

स्वामिनियों ने भी सर्वात्मभाव से विरुद्ध सभी भावों को निरस्त कर दिया है, इस प्रकार का जब सर्वात्मभाववाली भक्त गोपियों को दुःख हो, तब मर्यादा मार्गवाले भक्त इस प्रकार मानेंगे कि जिसमे दुःख का लेश नहीं, इस प्रकार के मोक्ष की अपेक्षा पुष्टिमार्ग अधिक नहीं है, तो फिर पुष्टिमार्ग में जीवों की प्रवृत्ति नहीं होगी, इस बात को जानकर भगवान् ने अतिरोधान क्यों नहीं किया, अर्थात् भगवान् विराजमान ही रहते तो गोपियों को दुःख नहीं होता, यहां कन्दर्प शब्द का अर्थ सर्वात्मभाव है, गोपियों का कामभाव भी सर्वात्मभाव रूप ही है, इस बात को ज्ञापन करने के लिये कन्दर्प पद का प्रयोग किया है।

अथवा भगवान् गोपियों के दैन्यभाव से प्रकट हुए हैं, अन्य किसी हेत्वन्तर से प्रकट नहीं

हुए हैं, इस बात को स्फुट करने के लिये यहां भी लौकिक रीति के जाननेवाले भ्रान्त की शंका का अनुवाद करते हैं, कि कन्दर्प ने भगवान् को वश में क्यों नहीं किया।

इस प्रकार यहां दो प्रकार से शंका की है, जिसमें प्रथम शंका का समाधान इस प्रकार है।

इस मार्ग में मोक्ष की अपेक्षा पुष्टि मार्ग अधिक है, इस प्रकार का ज्ञान जो नहीं होता है वह क्या रसवार्ता जाननेवाले को नहीं होता है, अथवा रसवार्ता जो नहीं जानता है, उसको नहीं होता है। इन दोनों पक्षों में यदि अन्य पक्ष—जो रसवार्ता नहीं जानता है, उसको नहीं होता है, इस प्रकार कहो तो हमको आपका कहना इष्ट है, कारण कि जो रस की बात जानता ही नहीं है, वह रसमार्ग की महत्ता क्या जान सकता है, प्रथम पक्ष—रसवार्ता जाननेवाले को पुष्टिमार्ग की अधिकता का ज्ञान नहीं होता है, इस पक्ष में शंका को स्थान नहीं है, कारण कि जहां विप्रयोग दशा में आध्यात्मिक मन्मथ रस को ही महारसत्व कहते हैं, वहां आध्यात्मिक मन्मथ रूप की विप्रयोग दशा में महारसत्व से ज्ञान होने पर कौन-सी शंका हो सकती है, अर्थात् कोई नहीं। यह प्रथम पक्ष शंका का समाधान किया है।

द्वितीय पक्ष शंका का समाधान तो श्रीसुबोधिनी जी में पिछली पंक्ति में किया ही है।

मन्मथ—कामदेव तीन प्रकार का है।

(१) आधिभौतिक, (२) आध्यात्मिक, (३) आधिदैविक।

आधिभौतिक मन्मथ देवतारूप है।

आध्यात्मिक मन्मथ सर्व के हृदयों में रहनेवाला साक्षान्मन्मथ है।

इस साक्षान्मन्मथ का भी भगवान् मन्मथ आधिदैविक है, यह भगवान् स्वयं हैं, कारण कि भगवान् सब के भी सब हैं।

इस आधिदैविक मन्मथ भगवान् ने कन्दर्प-आधिभौतिक कामदेव को भी मोहित कर दिया, आध्यात्मिक कामदेव स्वयं भगवान् को मोहित नहीं कर सकता, कारण कि भगवान् स्वयं आधिदैविक कामदेव रूप हैं, इसलिये गोपियों में दैन्य रूप प्रकट होने पर दैन्यनिवारण करने के लिये भगवान् ने कामरूप ही प्रकट किया है, अतः कामरूप प्रकट करके पहिले अध्याय २६ श्लोक ४३ 'उदारहास' इसमें जिस प्रकार गोपियों को उसी प्रकार यहां भी भगवान् ने कामयुक्त कर दी ॥ २ ॥

अब 'तासामाविरभूत्' इस उक्त श्लोक पर श्री विट्ठलेश्वर प्रभु का स्वतन्त्र लेख है, उसके अनुसार भाषार्थ कहते हैं।

अथवा 'तासामाविः' भगवान् का प्राकट्य गोपियों का सम्बन्धी है, अर्थात् गोपियों का सजातीय स्त्रीवेश है।

भगवान् स्त्रीवेश धारण करके पहिले अन्तर्हित गोपियों में स्थित थे, इस समय भी स्त्रीवेश से प्रकट हुए है, यद्यपि ज्ञापन समय में स्त्रीवेश का प्रयोजन नहीं है, तथापि इतने समय तक मैं तुम्हारे बीच में इस वेश से स्थित था, परन्तु तुमने मुझ को पहचाना नहीं था, अतः भगवान् ने स्त्रीवेश का प्रदर्शन करके ज्ञापित किया है, इसीसे 'कस्याः पदानि चैतानि' अ० २७, श्लोक २७ ए किसके चरण हैं, इत्यादि से गोपियों ने समुत्प्रेक्षा की है।

उस समय गोपियों को अन्य सम्बन्ध दोष भी स्फुरित नहीं हुआ, नहीं तो—यदि अन्य सम्बन्ध दोष स्फुरित होता तो खण्डिता नायिकाओं की तरह अधिक खेद से गोपियां उसी प्रकार के वाक्य कहतीं, तथा दृष्टि में प्रीति से उत्फुल्लता नहीं होती, इसलिये भगवान का उक्त प्रकार

का आविर्भाव लक्षित होता है, श्रीशुकदेव जी की उक्ति भी उसी प्रकार की है, 'सहसैव व्रजाङ्गनाः अतप्यन्' अ० २७, श्लोक १ एकाएकी व्रजाङ्गना ताप को प्राप्त हो गईं।

गोपियां यदि परस्पर मुखों को देखकर विचार करें तो विलक्षणता होने से अपने मण्डल में भगवान को देखकर फिर ताप नहीं करें, किन्तु गोपियों ने परस्पर मुख देखकर विचार नहीं किया, यही बात उक्त सत्ता इसवीं अध्याय के श्लोक में 'सहसा' पद से ज्ञात होती है, इससे आगे 'पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तं' अ० २७ श्लोक ४ में भूतों में अर्थात् भक्तों में भक्तसदृश स्त्रीवेश से 'अन्तः' गोपियों के भीतर मण्डल में तथा रूपान्तर से गोपियों के मध्य पातिनी किसी गोपी के साथ गोपियों के मण्डल से बाहर स्थित, इस प्रकार का अर्थ है।

यदि शंका करो कि सौभगमद से मानवती गोपियों के अनुरोध से ईश्वर ने अपना वेश त्याग क्यों किया ? आत्मवेश त्याग के बिना भी किसी दूसरे प्रकार से भी कर सकते थे ? इस शंका का उत्तर देते हैं कि (शौरिः)।

यहां पर इस प्रकार आशय है कि जिस प्रकार श्री वसुदेवजी अपने लिये अपेक्षित प्रभु प्राकट्य साधन करने के लिये, प्राकट्य के आधारभूत देवकीजी की सापेक्षता से शूर पुत्र होकर भी अपना धर्मयुद्ध करना छोड़कर कंस के आगे दैन्यप्रदर्शन करते हुए, दुःख सहन किया।

भक्तदुःख नहीं होता तो अपना अपेक्षित प्रभु का प्राकट्य भी नहीं होता, इसी प्रकार 'रसो वै सः' इस श्रुति के अनुसार ईश्वर भी अपना अपेक्षित रस प्रकट करने के लिये रस का आधार भी अपेक्षित होने के कारण अपना धर्म ऐश्वर्य त्याग कर गोपियों का अनुरोध अङ्गीकार करते हैं।

यदि भगवान् गोपियों का अनुरोध स्वीकार न करते तो 'रसमेव लब्ध्वानन्दी भवति' इस श्रुति में एवकार से रसरूप होने पर भी जब तक दूसरे से रस का लाभ नहीं होता है, तब तक रसवत्त्व सिद्ध नहीं होता है, इसलिये जिस प्रकार से रस गोपियों में प्रकट होता है, उस प्रकार के करने पर भी भगवान् के ऐश्वर्य की हानि नहीं होती है, प्रत्युत, रसभोक्ता होने के कारण रस की सिद्धि ही होती है, भगवान् में कोई भी बात अयुक्त नहीं होती है।

दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार भक्तों में लीलारस प्रकट करने के लिये पूर्व लीलारस से विलक्षण चतुर्भुज रूप से भगवान् वसुदेवजी के सकाश से प्रकट हुए, फिर वसुदेवजी को चतुर्भुजस्वरूप के दर्शन करके लीला विरोधी माहात्म्य ज्ञान हो जाने से, लीलारस को असम्भव मानकर भक्त सजातीय प्राकृत भाव स्वीकार करके लीलारस प्रकट करते हैं, उसी प्रकार यहां भी पहले नायिकाओं में लीलारस प्रकट करने के लिये लीलारस से विलक्षण नायकरूप से प्रकट हुए, नायक के दर्शन से उत्पन्न लीलाविरोधी मद मानात्मक दोष से रस को असम्भव मानकर रस सजातीय नायिका भाव स्वीकार करके लीलारस प्रकट करते हुए, इसी बात को ज्ञापन करने के लिये 'शौरि' पद कहा है[1]।

दुष्टमारण, लीला का अनुकरण, भगवद्भावापन्न नायिकाओं को सम्भव होता है, किन्तु रससम्बन्धी लीला का अनुकरण नायिका के भाव को प्राप्त भगवान् में ही सम्भव होता है, रस सम्बन्धी लीला में आत्मा को छिपाकर कोई अनिर्वचनीय रस का अनुभव होता है, इसलिये भगवान् ने स्त्रीवेशधारण किया है, यह भाव है।

---

१. अथवा स्त्रीवेश से स्त्रियों को भी अपनी स्थिति ज्ञात न हो, इस प्रकार की कुशलता जिस प्रकार से सविषय होने से रसशास्त्रवेत्ता क्षत्रिय को होती है, उस प्रकार की अन्य को नहीं होती है, इस बात को ज्ञापन करने के लिये शौरिपद कहा है।

इस लीला का अनुकरण अनिर्वचनीय है, इसलिये स्पष्टता से स्त्रीवेश नहीं कहा है।

यदि कहो कि जिस वेश से भगवान पहिले तिरोहित हुए, उसी वेश से प्रकट क्यों नहीं हुए, इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि (स्मयमानमुखाम्बुजः) कपटवेश हास्य संकोच से है, जब तक मुख रूपा होता है, तब तक कपट नहीं लखा जाता यह भाव है, फिर स्मित से कपट लखा गया है।

जिस प्रकार सहस्र पत्रवाला कमल प्रत्येक दल पर बैठनेवाले भ्रमरों को रसपूरक होता है, उसी प्रकार आगे प्रतियुगल में एक-एक के प्रति प्रकट होकर गोपियों को रसपूरक भगवान् का श्रीमुख भी है, इस बात को ज्ञापन करनेके लिये अम्बुज पद कहा है।

अथवा स्मय-गोपियों का गर्व, उस गर्व को भी मान-अहङ्कार जिससे इस प्रकार का मुख-कमल जिसका, यह अर्थ है।

यदि शास्त्र की मर्यादा का विचार किया जाये तो अहङ्कार से कभी भी भगवान् की प्राप्ति नहीं होती है, किन्तु इस समय तो मानवती गोपियों के मध्य में 'तासामाविरभूत्' भगवान् प्रकट हुए हैं, इसलिये मानको भी भगवत्प्राप्ति करनेवाला कहा है, अतः भगवान् को भी अभिमान हुआ, इस कारण से स्मयमानत्व कहा है, यह अभिमान भी भक्तों में ही होना चाहिये, उसमें भी रसरीति से ही, इस बात को ज्ञापन करने के लिये मुख कमल में स्मयमान की उक्ति है।

अथवा गोपियों का स्मय तथा मान मुखकमल में जिसके, जिस प्रकार सङ्गम दशा में तुम्हारे हृदय में स्मय-मान हुए, उसी प्रकार विप्रयोग दशा में मेरे हृदय में स्मय-मान नहीं है, किन्तु मुख में है, उसमें भी स्मय-मान तुमसे निकले मेरे सम्बन्धी हैं, इसलिये मुझ सिवा अन्यत्र नहीं जा सकते है।

यद्यपि मेरे हृदय में तुम्हारे दोषरूप है, इसलिये नहीं रह सकते है, तथापि भक्त सम्बन्धी दोषों को मैं सहन करता हूं, अतः मेरे मुख में स्थित हैं, इस बात को ज्ञापन करते हुए भगवान् के मुखकमल में स्मयमान है, यह भाव है।

अथवा स्मयमान मुख में अम्बुज, श्रम जल के कण जिसके, श्रमजल कणों को स्मय मानत्व नाम थोड़े थोड़े जलकण स्फुट होने को कहते हैं, जिस प्रकार गोपियों को भगवान् के अन्वेषण में परिश्रम हुआ, उसी प्रकार मुझ भगवान् को भी अन्वेषण आदि परिश्रम हुआ है, इस बात को सूचन करता भगवान् का स्मयमान मुख कमल है।

अथवा गोपियां भगवान् को ढूंढ रही हैं, और उनके श्रमका प्रिय को अनुभव होता है, इस प्रकार विरोधाभास दिखाते श्रमजल कण भगवान् के मुख में हैं।

अथवा स्मयमाना मुख में अम्बुजा-लक्ष्मी जिसके, यद्यपि लक्ष्मी जी का स्थान वक्षस्थल है, यथापि वक्षस्थल में स्थित मुझको देख कर गोपियों के साथ सङ्गम में प्रभुको प्रतिबन्ध होगा, तो फिर प्रभु आज मेरा निराकरण कर देंगे, इसलिये मैं मुख में स्थित हो जाऊं दर्पण के अभाव से मुख में स्थित मुझ को प्रभु नहीं जाने देंगे, इस प्रकार विचार करके लक्ष्मी भगवान् के मुख में स्थित हो गई, और कहने लगी कि मैंने अनेक साधन किये, किन्तु भगवान् की चरणरज भी प्राप्त नहीं हुई, और गोपियों के अनुरोध से ईश्वर क्या क्या कार्य करता है, इस प्रकार लक्ष्मी हँसने लग गई, फिर लक्ष्मी ने सोचा कि यदि ईश्वर मेरे हँसने को जान लेगा तो न जाने क्या करेगा, इस प्रकार भय से उक्त बात को ज्ञापन करने के लिये हास में मन्दता की है।

अथवा गोपियों का विरह से कृश शरीर तथा इनका वर्ण पहिले से बिगड़ गया था, इसलिये गोपियों के अङ्गान्तरों से निकल कर शोभात्मिका लक्ष्मी, अङ्गान्तरों से निकलने के समय गोपियों के दर्शन से वहां स्थिर हो गई, इस प्रकार हर्ष से मन्द हास है।

अथवा लक्ष्मी ने विचार किया कि भगवान् मेरे वश में नहीं हुए, किन्तु मेरी सजातीय गोपियों के वश में हो गये हैं, इसलिये इस समय भगवान् की स्वतन्त्रता हरण हो गई है, इस बात को देखकर मन्दहास करती हुई।

अथवा, स्मयमान, प्रकट किया मुखाम्बुज-मुखचन्द्र जिसका जिस प्रकार वर्षा में मेघों से पीडित चन्द्रमा होता है, और शरद में मेघ न होने से प्रकट होता है, उसी प्रकार भगवान् का श्री मुख भी गोपियों से अधिक खेद की तरह पहिले नील निचोल से पीडित हुआ, और आविर्भाव के समय नील निचोल को खोल दिया, इस लिये प्रकट हो गया, नहीं तो श्रीमुख के स्फुट भाव में वर्ण में विसदृशता होने से तथा कान्ति विशेष से वेश परिवर्तनमात्र से तिरोधान होना असंभव होता, यह भाव है।

अथवा स्मयमानमुखा-अम्बुजा-भूमि जिससे, 'अङ्कयः पृथ्वीति' यह श्रुति है, यहां पर यह आशय है कि जिस भूमि में गोपियों के साथ प्रभु रमण करते हैं, उस रमण दशा में भूमि को समग्र गोपियों के प्रिय स्वरूप का सम्बन्ध होता है, अन्य समय में तो भूमि को भगवान् के चरण का सम्बन्ध मात्र है, इसलिए भगवान् के विरह में पृथिवी भी पहिले विरह युक्त स्थित थी, अनन्तर भगवान् का जिस समय प्रादुर्भाव हुआ, उत समय गोपियों की तरह पृथिवी भी हँसने लग गई।

यद्यपि भूमि को भगवान् के चरण कमल का स्पर्श होने से अज्ञान उत्पन्न होता है, और अज्ञान से विरह का अभाव है, इसलिये पहिले खेदकी संभावना नहीं है, तथापि पूर्व स्वरूप का सम्बन्ध न होने से विरह ही है, इसलिये पहिले विरह कहा है।

अथवा स्मयमान मुख अम्बुज-यमुना जीका वायु जिससे, विप्रयोग में रति नहीं होती है, अतः श्रम भी नहीं होता है, उस समय वायु अपने उपयोगी नहीं होता है, इसलिये वायु अधिक खेद का हेतु होता है, वह वायु पहिले खिन्न था भगवान् के प्रकट होने पर हर्षयुक्त हो गया, यह भाव है।

अथवा स्मयमान मुखा, खिलेपुष्प अम्बुज-सरस वृन्दावन भूमि से उत्पन्न वृक्ष लतादि जिससे, पहिले वृक्षादि के नीचे भगवान् की क्रीडा नहीं होती थी, इसलिये माला केशपाश आदि के लिये वृक्षों का अङ्गीकार नहीं होता था इसलिये वृक्षलता आदि खिन्न थे, भगवान् के प्रकट होने पर हर्षयुक्त हो गये, यह भाव है।

अथवा, स्मयमान मुख, विकसित अम्बुज, कुमुद-कमल जिससे, पहिले शयन आदि के लिये कमल आदिका अङ्गीकार नहीं था, इस समय भगवान् के प्रकट होने पर मुख कमल विकसित हो गये, यह भाव है।

अथवा स्मयमान मुख, प्रकाश विशेषवान् अम्बुज, चन्द्र जिससे, चन्द्रमा भगवान् और भगवान् की प्रियाओं को रसोद्दीपन के लिये प्रकट हुआ है, भगवान् के विरह में रस सम्बन्धी सब वस्तु अस्त व्यस्त देखकर मलिन सा था, किन्तु भगवान् के प्रकट होने पर विशेष प्रकाशवान् हो गया।

अथवा, स्मयमान मुखाम्बुजा, भ्रमर जिससे कारण कि प्रभुका श्रीमुख ही कमल-रसात्मक भ्रमरों को है, इसलिये प्रकट होने पर भ्रमर हर्ष युक्त हुए, भ्रमर भगवान् के एक श्रीमुख का ही

रस पीने वाले हैं, 'एतेऽलिनस्तव यशोऽखिललोकतीर्थं गायन्त आदिपुरुषानुपदं भजन्ते' इस प्रभुवाक्य से भ्रमर निरन्तर प्रभु के सङ्ग में ही रहते है, इसलिये पहिले प्रभुविरह से असङ्गत थे, प्रभु प्राकट्य होने पर पहिले की तरह प्रभुके सङ्ग में हो गये, यह भाव है, इस प्रकार भगवान् के विरह में जहां रस संबंधियों का भी अन्य प्रकार हो गया, वहां फिर साक्षात् रस का अनुभव करने वालीं श्रीमद्व्रजरत्न प्रेयसियों को जो जो हुआ, उस उसमें क्या आश्चर्य है, इस प्रकार समुदाय से तात्पर्य सूचित किया है।

यदि शंका करो कि प्रकट होने के अनन्तर स्त्रीवेश से स्थित रहे, अथवा भगवान् अपने वेश से स्थित हुए।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'पीताम्बरधरः' भगवान् ने स्त्री वेश त्यागकर अन्य वेश धारण करलिया, यह बात 'पीताम्बरधरः' इस पद के 'धर' पद से सूचित होती है, नहीं तो पीला है अम्बर जिसका, पीताम्बर, इस प्रकार बहुव्रीहि समास से उतना अर्थ सिद्ध हो जाता है, फिर धर पद नहीं कहते, अतः धर पद से स्त्रीवेश त्याग, और दूसरा अपना वेश धारण अर्थ होता है।

यदि कहो कि उक्त वेश समय में पीताम्बर भगवान् ने कहां धरा, इस के उत्तर में कहते हैं कहीं एकान्त में, निकुञ्ज में, अथवा वृक्ष की कोटर में धारण किया है, इसी आशय से 'पीताम्बर धरः' आपने पीताम्बर धारण किया, कहा है।

अथवा आप गोपियों के परिरम्भण, सम्भ्रमण, समारम्भण, से शोभित, इस मेरे वक्षस्थल को अन्य कोई मत देखो, इस प्रकार अन्य से गोपन करने के लिये पीताम्बर धारण किया है।

अथवा पीताम्बर स्वरूप का आवरण करने वाला है, इसलिये मायारूप है, उस पीताम्बर को भगवान् ने बाहिर धारण किया है, अतः भीतर मेरे कपट नहीं है, इस प्रकार कापट्य का अभाव ध्वनित होता है।

प्रश्न और उत्तर पर्यन्त गोपियों के भीतर भगवान् कपटी हैं, इस प्रकार धारणा थी, नहीं तो 'भजतोऽनु भजन्त्येके' इत्यादि प्रश्न गोपियां नही करतीं।

भगवान् प्रश्न के उत्तर में अपनी निष्कपटता स्वयं ही कहेंगे 'न पारयेऽहं' इस वाक्य से, नहीं तो जिस प्रकार तुमने अभिमान किया, उस प्रकार मैंने भी अभिमान किया, इस प्रकार भगवान् स्पष्ट कहते, कारण कि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' जो मुझ को जिस प्रकार भजता है, मैं उसको उसी प्रकार से भजता हूं, इस प्रकार ईश्वर का स्वभाव है, फिर भगवान् 'मैं तुम्हारा ऋणी हूं' इस प्रकार ऋणित्व अङ्गीकार नहीं करते, कारण कि ईश्वर का नियामक कोई नहीं है।

इन सब बातों से सिद्ध होता है कि भगवान् का गोपियों में निरुपधि प्रेम है, और वह निरुपधि प्रेम एकरस है, भगवान् ईश्वर है, इसलिये ईश्वर में कापट्य की सम्भावना नहीं है, यह ज्ञापन किया है।

वास्तव में तो गोपियो के भीतर भी कापट्य की सम्भावना नहीं है, कारण कि अग्रिम रस का उपयोगी भगवान् ने गोपियों में मानांश स्थापन किया है, इसी से गोपियों ने भगवान् से प्रश्न किया है।

अतः 'ईषत्कुपिता' गोपियां थोड़ा क्रोध युक्त हो गई, इस प्रकार आगे कहेंगे, गोपियों में कोप स्वाभाविक है, प्रिय भगवान् का किया नहीं है, यदि प्रियकृत कोप होना तो 'कोपिताः' गोपियों को कोप कराया इस प्रकार कहते, गोपियों को ईश्वर में केवल कपट की संभावना होती है, वह पीताम्बर बाहिर धारण करने से दूर हो गई है।

यदि कहो कि भगवान् ने स्त्रीवेश भी उसी समय ग्रहण किया है, इस प्रकार मालूम होता है, यदि इस बात को नहीं मानने तो 'रेमे तया चात्मरतः' इस प्रकार पूर्व में कहा है कि भगवान् ने अन्य गोपी के साथ रमण किया है, यह वाक्य संगत नहीं होगा, अतः भगवान् में कापट्य किस प्रकार नहीं है, भगवान् में तो कापट्य विद्यमान ही है।

इस प्रकार की शंका का उत्तर देते कहते हैं कि आपका कहना ठीक हैं, किन्तु आगे भगवान का अविर्भाव प्रत्येक गोपी के साथ कहा है, इसलिये एक रूप से हमारी स्वामिनी के साथ रमण किया, और दूसरे स्वरूप से स्त्रीवेश करके भगवान् गोपियों में स्थित हो गये, इसलिये दो स्वरूप कहने से कापट्य की संभावना भी नहीं होती है।

'रेमे तया च' इसमें 'च' कारसे गोपियों के साथ स्त्रीवेश धारण करके भगवान ने प्रकारान्तरीय रमण किया है, इस प्रकार कहा है, अतः तुम्हारा कहा दूषण भगवान् में नहीं है, भगवान की सर्वलीला उज्ज्वल है।

अथवा 'पीताम्बरधरं' पीतं·गोपियों से ग्रस्त-गोपियों से एक व्याप्त तादृश अम्बर-हृदयावच्छिन्न आकाश, उस आकाश को भगवान् धारण करते हैं, इस प्रकार पीताम्बरधारी भगवान् हैं, परब्रह्म एक रस है, कारण कि धर्म, और धर्मी का अभेद है, स्वरूप की तरह हृदय भी व्यापक है, इस बात को कहने के लिये यहां अम्बर पद कहा है, यदि इस प्रकार नहीं मानते हैं तो फिर एक विषय में लगा हुआ मन विषयान्तर में नहीं जाता है, इसलिये मन को अनेक नायिकाओं से व्याप्यता नहीं होगी, अतः भगवान् का मन व्यापक है, भगवान् का मन अपने विरह से उत्पन्न गोपियों के क्लेश का दर्शन करके जैसे तैसे फिर जाने की इच्छा से धारण किया स्थित है, इस प्रकार धरण की उक्ति से व्यंजित होता है।

यदि कहो कि भगवान् अच्युत-च्युतिरहित हैं, इसलिये स्त्री विना कभी भी नहीं रह सकते है, इस प्रकार अनुभव करने वाली गोपियों के मन में लक्ष्मी जी के साथ, अथवा हमारे बीच में से किसी गोपी के साथ भगवान् अवश्य स्थित हैं, इस प्रकार का वितर्क गोपियों को क्यों नहीं हुआ। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि (स्रग्वी) भगवान् माला पहिने हैं, यदि किसी अन्य के साथ भगवान् की स्थिति होती तो उसके अङ्ग सङ्ग में प्रतिबन्धकता से माला ही नहीं रहती, और यदि माला रहती तो अङ्ग सङ्ग से विलक्षण हो जाती, अतः भगवान् अन्य स्त्री के साथ स्थित नहीं हैं, दूसरी बात यह है कि माला कीर्त्ति रूप है, जिस समय गोपी के साथ भगवान रमण करते हैं, उस समय गोपी जय माला अर्पण करती है, तब उस माला से कीर्ति होती है, जन्य प्रकार से कीर्ति नहीं होती है, इस कारण से भी अन्य स्त्री के साथ भगवान् स्थित नहीं हैं।

और गोपियों के विरह में भगवान अपना ताप निवृत्त करने के लिये गोपियों द्वारा अर्पित माला को हृदय में जो धारण करता है, वह फिर अन्यथा कैसे करता है, यह भाव है और भी गोपियां कहती हैं कि जिस प्रकार स्वयंवर में वरतनु वर के कण्ठ में माला अर्पण करती है, उसी प्रकार गोपियां भी प्रेमलक्षणा माला अर्पण करतीं अतः प्रेमलक्षणा माला युक्त भगवान् अन्यथा कैसे करते।

वह माला भी केवल कण्ठमात्र में नहीं, किन्तु बाहर-भीतर धारण करते हैं, इसलिये यहां कण्ठ पद नहीं कहा है।

इससे यह भी सूचित होता है कि जिस प्रकार एक गोपी से वृत भगवान अन्य गोपी से भी वृत होते हैं, उस समय आपस में सापत्न्यभाव नहीं होता है, जब कि निकट में आई हुई द्विजपत्नियों में भी सापत्न्यभाव नहीं हुआ, तब अन्य स्त्रियों की कहाँ बात है, यह भाव है।

यदि शंका करो कि काम से मोहित क्या-क्या नहीं करता है, इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि (साक्षान्मन्मथमन्मथः) मन्मथ-काम विषय द्वारा सब को ही मोहित करता है, किन्तु साक्षात् स्वयं मोह नहीं करता है, कारण अनङ्ग-अङ्गरहित है, और भगवान् तो प्रकट रसरूप हैं, इसलिये साक्षात् स्वयं ही मन्मथ को मोहित करते हैं, फिर मन्मथ-काम का किया मोह भगवान् को कैसे हो सकता है, यह भाव है।

दूसरी बात यह है कि भगवान का स्मित और पीताम्बर दोनों मोह करनेवाले हैं, भगवान् में दोनों वस्तु विद्यमान हैं, इसलिये भगवान जैसे-जैसे जो-जो करता है, वैसे-वैसे वह-वह सब युक्त ही है, कारण कि आप ईश्वर हैं, इसलिये कोई बात अयुक्त नहीं है, इस प्रकार सिद्धान्त है।

यदि शंका करो कि भगवान् अलौकिक रीति से गोपियों का मान दूर करने के लिये बाहर से तिरोहित होकर गोपियों के भीतर प्रकट हुए, इस प्रकार आचार्यचरणों ने व्याख्यान किया है, अतः आचार्यों के व्याख्यान से विरोध-सा प्रतीत हो रहा है।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि आचार्यों के व्याख्यान का तात्पर्य बिना जाने विरोधी मालूम होता है, सुनिये, भगवान् बाहिर से तिरोहित हो गये, इस पक्ष में भी बाहिर भगवान् नहीं हैं, इस प्रकार कह नहीं सकते हो, कारण कि भगवान् व्यापक है, इसीसे 'आकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तम्' भगवान् आकाश की तरह भीतर-बाहिर प्राणियों में स्थित है, इस प्रकार शुकदेवजी ने भी कहा है, इसलिये भगवान का गोपियों को दर्शन न होना ही—अदर्शन ही तिरोधान है, वह अदर्शन तिरोधान माया से ही वेशान्तर से भी सम्भव होता है, इसलिये कोई विरोध नहीं है।

फल प्रकरण में जिस प्रकार पहिले अलौकिक रात्रियों में रमण अलौकिक रीति से कहा है, उसी प्रकार आगे लौकिक रात्रियों में रमण लौकिक रीति से भी किया है 'एवं शशाङ्कांशु-विराजिता निशा' अ० ३, श्लोक २६ इसमें आगे कहेंगे, इससे अलौकिक रात्रियों में आधिभौतिक लौकिक रात्रियों का स्थापन किया है, और भगवान् की लीला नित्य है, इसलिये एक समय में दोनों जगह लीला सम्भव होती है, अतः एक समय में दोनों प्रकार का कथन है, इसमें कहा हुआ विरोध सम्भव नहीं होता है, इस प्रकार श्रीविट्ठलेश्वर प्रभु कृत 'तासामाविरभूत्' इस श्लोक के लेख की भाषा पूर्ण हुई ॥ २ ॥

(सुबो०) ततो यज्जातं तदाह तं विलोक्येति ।

अब भगवान् के प्राकट्य के अनन्तर जो कुछ हुआ, उसका वर्णन शुकदेवजी करते हैं।

तं विलोक्यागतं प्रेष्ठं प्रीत्युत्फुल्लदृशोऽबलाः ।
उत्तस्थुर्युगपत् सर्वास्तन्वः प्राणमिवागतम् ॥ ३ ॥

पदपदार्थ—(तं) पूर्व में कहा (प्रेष्ठं) प्रियतम को (आगतं) प्रकट हुए को (विलोक्य) देखकर (प्रीत्युत्फुल्लदृशः) प्रीति से प्रफुल्लित दृष्टिवाली (सर्वाः) सर्व (अबलाः) अबलायें (तन्वः) शरीर के कर चरणादि अवयव (आगतं) आया हुआ (प्राणमिव) प्राण की तरह (युगपत्) एकदम (उत्तस्थुः) उठ पड़ीं ॥ ३ ॥

भाषार्थ—परम प्रिय को प्रकट हुआ देखकर प्रीति से प्रफुल्लित दृष्टि वालीं सर्व अबलाएं जिस प्रकार शरीर के अवयव कर चरणादि प्राणों के आने से सचेतन हो जाती हैं उसी प्रकार सर्व गोपियां एकदम उठ पड़ीं ॥ ३३ ॥

(सुबो०) तमागतं विलोक्य युगपत् सर्वा उत्थिताः । पूर्वमाविर्भावमुक्त्वा अधुना यदागमनमुक्तम्, तद्विलोकनसमये स्वामिनीभावानुवादरूपम् । पूर्वमन्तः स्थितोऽधुना बहिरागत इति वा ज्ञापनाय तथोक्तिः । ननु किमाश्चर्यं भगवत्यागते उत्थिता इति । तत्र न हचेताः सजीवाः स्थिताः, किन्तु निर्जीवा इति वक्तुं दृष्टान्तमाह । तन्वः करचरणाद्यवयवाः । प्राणमागतमिवेति । प्रयत्ने हि एकमेवाङ्गं व्यापृतं भवति, प्राणे तु सर्वाणि सम्भूय । अतो बहुवचनं युगपदुत्थानार्थम् । उत्थानं पश्चानां भाव्यम्, देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवानाम् । तत्र जीवस्यान्याधीनमुत्थानम् । परं तस्मिन्नागते सर्वाण्युत्तिष्ठन्ति । स तु भगवति प्रविष्टः, भगवत्सङ्गे समागतः, भगवत्युत्थित एवोत्थितः । अन्तःकरणं तु उत्थितमित्यत्र हेतुमाह प्रेष्ठमिति । अत्यन्तं प्रियो भगवान् । तं दृष्ट्वा उत्थितम् । भगवति या प्रीतिस्तया कृत्वा उत्फुल्ला दृक् यासाम् । अनेन प्रीत्या इन्द्रियाणामुत्थानम् । ('एतासां विलोकनार्थमेवागमनमित्यागमनमात्रेण विलोकनमादौ संपन्नम् । उत्फुल्लता तु ततो भिन्ना । तस्याः पुष्पधर्मत्वेन तदुक्त्या दृशाममलत्वं व्यज्यते । तत्र प्रीतेर्हेतुत्वोक्त्या इयदवधि तत्कार्याभावेनाधुनैव तत्प्राकट्यं ज्ञाप्यते रवेरिव । विरहे सर्वतिरोधानादेतत्तिरोधानमप्यासीत् । अत एवाबलात्वमुक्तम् । कार्यमात्रे स्वसामर्थ्याभावज्ञापनार्थम् । दृष्टान्तेनैव प्राणानामुत्थानम् । प्राणानां भगवान् प्राण इति । शरीरं तु पूर्वोक्ताभिलषितपदार्थत्वेन निरूपणात् उत्थितमित्यत्र तमिति हेतुः) ॥ ३ ॥

भगवान् के आगमन को देखकर सब गोपियाँ एकदम उठ पड़ीं, पहिले द्वितीय श्लोक में भगवान् गोपियों के मध्य में ही प्रकट हुए, इस प्रकार कहा है, अब इस तृतीय श्लोक में धर्मी भगवान् स्वयं पधारे।

अथवा पहिले भगवान् गोपियों के भीतर हृदय में विराजमान थे, इस समय भीतर से बाहर पधारे हैं, इस बात का ज्ञापन करने के लिये भगवान् का आगमन कहा है।

यदि आप कहो कि भगवान् जिस समय पधारे उस समय सब गोपियां उठ पड़ीं, इसमें आश्चर्य की क्या बात है।

इस शंका का उत्तर देते शुकदेवजी कहते हैं कि जब तक भगवान् नहीं पधारे थे तब तक गोपियों में जीव नहीं था, बिना जीव की थीं, निर्जीव गोपियां भगवान् को पधारे हुए देखकर एकदम उठ पड़ीं, यह तो महान आश्चर्य की बात है, इसलिये इस बात को स्पष्ट करने के लिये शुकदेव जी दृष्टान्त कहते हैं, (तन्वः प्राणमिवागतम्) 'तन्वः' शरीर के कर-चरणादि अवयव जिस प्रकार प्राण आने पर उठ पड़ते हैं, उसी प्रकार भगवान् का आगमन देखकर गोपियां निर्जीव थीं, वे सब सजीव होकर उठ पड़ीं।

अपने प्रयत्न करने पर एक ही अङ्ग अपना कार्य करता है, किन्तु प्राण आनेपर तो हस्त चरण आदि सब अवयव इकट्ठे होकर कार्य करते हैं।

१. (प्रभूणां स्यादिति)।

बृहदारण्यक में 'यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च' इस ब्राह्मण में सब इन्द्रियों की तथा शरीर की स्थिति मुख्य प्राण के अधीन है, इस प्रकार प्रतिपादन किया है, और यह बात प्रत्यक्ष भी है, इसलिये गोपियां एक दम उठ पड़ीं, इसी बात को सूचन करने के लिये मूल में 'उत्तस्थुः' यह बहु बचन का प्रयोग किया है।

उत्थान देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण, और जीव इन पांचो का होता है, यद्यपि उत्थान देह का ही प्रतीत होता है, तथापि व्युत्पादन रीति से पांचों का ही कहा है।

उसमें जीव का उत्थान अन्य के अधीन है, अर्थात् लीलासहित हृदय में स्थित भगवान् में जीव स्थित है, इसलिये जीव का उत्थान भगवान् के अधीन है, जिस समय शरीर में जीव आता है, उस समय सभी देहादि उठ पड़ते हैं, 'चित्तेन हृदये चैत्यः क्षेत्रज्ञः प्राविशद्यदा। विराट् तदैव पुरुषः सलिलादुदतिष्ठत ॥' इस प्रकार भागवत तृतीय स्कन्ध में कहा है कि जीव का आगमन होने पर पुरुष का उत्थान हुआ है, अन्यत्र भी इसी प्रकार को जानना चाहिये।

यदि शंका करो कि पूर्व में जीव के अभाव में पहिली दो अध्यायों का कार्य किस प्रकार सम्पादन हुआ।

तो इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि वह जीव भगवान में प्रविष्ट है, अर्थात् पहिले भगवान् गोपियों के भीतर प्रविष्ट थे, इसलिये सुषुप्ति की तरह जीव भी भगवान् में प्रविष्ट था, इसीसे 'जगृहुस्तदात्मिकाः' अ० २७, श्लोक २ इसमें कहा है।

सुषुप्ति में प्राज्ञ को सम्परिष्वङ्गमात्र है, अन्य क्रिया नहीं है, केवल सुखमात्र है, और जीव को तम के अभिभाव से अज्ञान है।

प्रकृत—गोपियों के प्रसङ्ग में तो भगवान् को ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र भाव से लीला करने की इच्छा है, इसलिये गोपियों के जीव को तम से अभिभव नहीं है, अतः सर्व कार्य सम्पादन में कोई आपत्ति नहीं है, यह भाव है।

गोपियों का जीव भगवान के सङ्ग में रहता था, कारण कि भगवान् भीतर विराजमान थे, भगवान् में सङ्गत था, अब भगवान् प्रकट हो बाहिर पधारे, तब गोपियों का जीव भी उत्थित हुआ, अर्थात् अपने स्थान में आ गया।

मूल में (आगतं) इस पद से भगवान् का आगमन जीव के उत्थान में हेतु है।

गोपियों का अन्तःकरण भी उठा, इसमें हेतु शुकदेवजी कहते हैं, (प्रेष्ठम्) भगवान् गोपियों के अत्यन्त प्यारे हैं, इसलिये भगवान् को आया देखकर गोपियों का अन्तःकरण भी उठ पड़ा।

भगवान में जो गोपियों की प्रीति है, उस प्रीति से गोपियों के नेत्र उत्फुल्ल-विकसित हो गये, गोपियों की भगवान् में प्रीति के होने के कारण इन्द्रियों का उत्थान हो गया, अर्थात् इन्द्रियों के उत्थान में गोपियों की प्रीति हेतु है, गोपियों का विलोकन करने के लिये ही भगवान् का आगमन हुआ है, इसलिये भगवान् के आगमनमात्र से गोपियों को भगवान् का दर्शन हुआ है, किन्तु गोपियों के नेत्रों में उत्फुल्लता दर्शन से भिन्न हैं—अर्थात् भगवान् के दर्शन से नहीं है।

विकसित होना पुष्प का धर्म है, इसलिये मूल में नेत्रों को उत्फुल्लता कहने से गोपियों की चक्षुओं का कमलत्व व्यंजित होता है और उत्फुल्लता में प्रीति हेतु कहा है।

इससे पूर्व अब तक प्रीति का कार्य—गोपियों के नेत्र विकसित नहीं हुए थे, किन्तु इस समय सूर्योदय से जिस प्रकार कमल खिल जाते हैं, उसी प्रकार प्रीति का कार्य-गोपियों के नेत्र विकसित हो गये, कारण कि भगवान के विरह में सब का तिरोधान हो गया था, इसलिये गोपियों की जो भगवान में प्रीति थी, उसका भी तिरोधान हो गया था, इसीलिये मूल में (अबलाः) बलरहित, इससे कार्य मात्र में अपनी सामर्थ्य का अभाव बतलाया है।

मूल श्लोक में 'प्राणमिवागतम्' यह दृष्टान्त दिया है, इससे प्राणों का उत्थान भी कह दिया है, कारण कि भगवान प्राणों के भी प्राण हैं, अर्थात् आधिदैविक प्राण हैं।

पूर्व कहा इच्छित पदार्थ निरूपण करने से शरीर का भी उत्थान हुआ है, इसमें 'तम्' यह हेतु है, अर्थात् भगवान शरीर धारण करके स्वरूप से प्रकट हों इस प्रकार गोपियों की इच्छा थी, यहां भगवान के प्राकट्य में शरीर-स्वरूप का वर्णन किया है, इसलिये गोपियों का शरीर भी उठ पड़ा, इस प्रकार का तात्पर्य है ॥ ३ ॥

(सुबो०) एवमुत्थितानां भगवता सह स्थितानां कार्यमाह काचिदिति पञ्चभिः।

इस प्रकार गोपियों के देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण और जीव इन पांचों का उत्थान कहा, उक्त पांचों भगवान् के साथ रहे, अब इन पांचों का कार्य कहते हैं। पांच श्लोकों से।

काचित् कराम्बुजं शौरेर्जगृहेऽञ्जलिना मुदा।
काचिद् दधार तद्बाहुमंसे चंदनरूषितम् ॥ ४ ॥

पदपदार्थ—(काचित्) कोई गोपी (शौरेः) भगवान् के (कराम्बुजं) हस्त-कमल को (मुदा) आनन्द से (अञ्जलिना) अपनी अञ्जली से (जगृहे) ग्रहण करती हुई (काचित्) कोई गोपी (चंदनरूषितम्) चंदन से लिप्त (तद्बाहुं) भगवान् की भुजा को (अंसे) अपने कंधे पर (दधार) धारण करती हुई ॥ ४ ॥

भावार्थ—किसी गोपी ने भगवान् का हस्त कमल आनंद से अपनी अञ्जलि में धारण किया, और किसी गोपी ने चंदन से लिप्त भगवान् का हस्त अपने कंधे ऊपर धारण किया ॥ ४ ॥

(सुबो०) पूर्वमनेकविधा अपि भगवत्याविभूंते सप्तविधा एव जाताः। एकोभगवान् सर्वार्थे प्रकटीभूतः। तत्र या अग्रे स्थिताः, ता अपि निकट स्थिता एव पूर्वमुच्यन्ते। शुद्धसात्त्विक्यः शुद्धरजोयुक्ता रजः सात्त्विक्यश्च, निर्गुणाश्च, शिष्टाः सप्तविधा गण्यन्ते। काचिदत्र शौरेः कराम्बुजं मुदा अञ्जलिना अगृह्णात्। एक एव हस्तो भगवता प्रसारितः। पीताम्बरधर इति द्वितीयेन हास्यनिवारणार्थं पीताम्बर ग्रहणात्। बहुमानेन ग्रहणमञ्जलिना भवति। शौरेरिति वीरत्व ज्ञापनाय। मुदेति पूर्वोक्त क्लेश व्यावृत्त्यर्थम्। अन्यापुनस्ततोप्यन्तरङ्गा भविष्यामीति तद्बाहुमंसे दधार। यथा लिङ्गितैव भवति। अग्रे एतस्या विनियोगो वक्तव्यः। 'भुजमगरुसुगन्धं मूर्ध्न्यं धास्यत् कदानु' इति। अतएव तदीयो धर्मो-

न्तः स्थितस्तस्या निरोधं साधयिष्यतीति चन्दनरूषितमित्युक्तम्। चन्दनेनरूषितं लिप्तम्। चन्दने हेतुः पूजा लक्ष्मीर्वा पूर्वोक्ता। तथा ताम्बूलेपि। एवं सामग्री प्रकटनेन तासां देवोत्तमानां च कृत्यं प्रदर्शितम् ॥ ४ ॥

पहिले गोपियां अनेक प्रकार की थीं, किन्तु भगवान् का आविर्भाव होने के अनन्तर सात प्रकार की ही हो गईं, कारण कि जब तक भगवान् प्रकट नहीं हुए थे, तबतक गोपियों के चित्त में विक्षेप हो रहा था, इसलिये पूर्व २८ वीं अध्याय में वचन रीति से गोपियों के भावानुसार अनेक प्रकार प्रतिपादन किये थे, अर्थात् सत्त्व रज तम मिश्रण तथा निर्गुण भाव से अनेक प्रकार कहे थे, किन्तु इस समय तो इस २९ वीं अध्याय में प्रभु भगशब्दार्थ–ऐश्वर्यादि छै गुणों को प्रकट करके स्वयं प्रकट हुए हैं, इसलिये गोपियां भी भगवान् के प्रकट स्वरूप में ही एक स्थित हैं, अतः प्रभुमय हो गई हैं, अर्थात् भगवान् का स्वरूप रसात्मक है, इसलिये गोपियों का भी स्वरूप रसात्मक हो गया, गोपियों के धर्म भी रसात्मक हो गये हैं, इसी से भृकुटि बन्धन आदि भाव गोपियों में संघटित होते हैं, यह भाव है।

एक ही भगवान् सर्व गोपियों के लिये प्रकट हुए हैं, इसलिये गोपियों के समूह में जो जो गोपियाँ दूर में स्थित थीं, वे भी भगवान् के समीप में स्थित हो गईं इस बात को पहिले कहते हैं, कारण कि भगवान् का प्राकट्य सभी के लिये है, सर्वत्र ही प्रकट होकर सभी गोपियों को निकटता संपादन की है, इसलिये भगवान् का हस्तकमलधारण आदि कार्य सर्वगोपियां एकसमय में ही करती हैं, यह भाव है।

मूल श्लोक में 'काचित्' यह एक वचन एक भाव वाली गोपियों का सूचक है, वास्तव में तो इस प्रकार की बहुत सी गोपियां हैं, इस प्रकार जानना चाहिये।

यद्यपि भगवान् के ऐश्वर्यादि छै धर्म और एक धर्मी भगवान्, इस प्रकार गोपियों में सात प्रकार विवक्षित हैं, तथापि पूर्व अट्ठाईसवीं अध्याय में सत्त्व रज तम निर्गुण आदि अंशों का निरूपण किया है, वे अंश भी इस समय गोपियों में स्थित हैं, इस कारण से यहां गुणों के प्रकार से सात प्रकार का वर्णन करते हैं, (१) शुद्ध सात्त्विकी, (२) शुद्ध राजसी, (३) राजस सात्त्विकी, मूल में 'रजः सात्त्विकयश्च' कहा है इसमें चकार से यहां (४) सत्त्व प्रधान राजसी, (५) और निर्गुण, इसी प्रकार मूल में 'निर्गुणाश्च' इसमें चकार है, इससे तमः सजातीय भाववाली छठी जाननी चाहिये, इस प्रकार छै हुईं, शेष चार सत्त्वप्रधान तामसी, रजःप्रधान तामसी, तमःप्रधान सात्त्विकी, और तमःप्रधान राजसी, ये सब एक प्रकार की यहां कही हैं, इस प्रकार सात प्रकार हैं।

पांचवीं अध्याय, अर्थात् ३० तीसवीं अध्याय में 'काचित् समं' इस दशवें श्लोक में भगवान् के गुणरूप का वर्णन करेंगे, सुबोधिनी में जो क्रम निरूपण किया है, वह क्रम विवक्षित नहीं है, 'निर्गुणाश्च' यहां क्रम की अविवक्षा से पहिले तामसी, इसके अन्तन्तर निर्गुण का निरूपण करेंगे, इस प्रकार जानना चाहिये।

कोई गोपी यहां भगवान् के हस्त कमल को आनन्द से अपनी अञ्जलि में ग्रहण करती हुई, भगवान् ने अपना एक ही हस्त प्रसारित-लम्बा किया था, कारण कि 'पीताम्बरधरः' आप पीताम्बर को हास्य निवारण करने के लिये दूसरे हाथ से धारण कर रहे हैं, जिस वस्तु का बहुत सन्मान किया जाता है, वह वस्तु अञ्जलि से ग्रहण की जाती है।

मूल श्लोक में भगवान् के लिये 'शौरेः' पद का प्रयोग किया है, वह वीरत्व ज्ञापन करने के लिये किया है।

पहिले अध्याय में गोपियों को जो क्लेश का वर्णन किया था, वह क्लेश गोपियों का दूर हो गया, इस बात को सूचन करने के लिये मूल में 'मुदा' पद का प्रयोग किया है।

पूर्वोक्त गोपी की अपेक्षा मैं भगवान् की अन्तरङ्ग हो जाऊं, इस भावना से अन्य गोपी फिर भगवान् की भुजा को अपने कंधे ऊपर धारण करती हुई, इस प्रकार भुजा धारण की कि जिस प्रकार भगवान् आलिङ्गन कर लें।

आगे ४४ वीं अध्याय में 'भुजमगरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् कदा नु' अगर से सुगन्धित हस्त प्रभु मेरे मस्तक पर कब धरेंगे, इस प्रकार भगवान् के बाहुका विनियोग आगे उक्त गोपी में कहेंगे।

यदि शंका करो कि इस २९ वां अध्याय में जो अनुभव हुआ है, उसकी ही ४४ वाँ अध्याय में स्फूर्त्ति होनी चाहिये, कारण कि अनुभूत पदार्थ की ही स्फूर्त्ति होती है, इस प्रकार का नियम है। और यदि कहो कि भ्रमर गीत ४४ वाँ अध्याय में यहां पर इस २ अध्याय में कहे हुये बाहु का ही सत्त्व है, तो फिर ४४ वाँ अध्याय में 'अगरुसुगन्ध' के स्थान पर चन्दन सुगन्ध कहना चाहिये था, इसलिये इस बाहु का वहां सत्त्व नहीं है।

इस शंका के उत्तर में श्री महाप्रभुजी कहते हैं कि वहां ४४ अध्याय में इसी बाहु की स्फूर्त्ति हुई है, कारण कि भगवान् का बाहुसंबन्धी जो स्वाभाविक धर्म है, वह चन्दन के भीतर स्थित है, वह अगरु सुगंध धर्म गोपियों को निरोध सिद्ध करेगा, इसी तात्पर्य को समझाने के लिये, और चन्दन तो आगन्तुक धर्म है, इस बात को स्पष्ट बतलाने के लिये शुकदेव जी ने यहां 'चन्दनरूषितम्' कहा है, इसी कारण से जिस समय पूतना का देह जलता था, उस समय भगवान् के सम्बन्ध से पूतना के सर्व पाप नष्ट होकर धूंआ में अगरु की सुगंध का ही वर्णन किया है, 'दह्यमानस्य देहस्य धूमश्चागरुसौरभः' अतः कोई विरोध नहीं है।

'चंदनरूषितं' चंदन से रूषित-लिप्त भगवान् की भुजा है, भगवान् की भुजा में चंदन का लेपन कैसे हुआ है, इसमें हेतु बतलाते हैं, कि दूसरे श्लोक में जो 'स्रग्वी' पद है, उससे सूचन किया था कि ब्रह्मा, तथा लक्ष्मी जी ने भगवान् के आगमन समय में पूजा की थी, उस समय चन्दन भुजा में लिप्त किया था, अथवा 'पीताम्बरधर' पद से सूचित भगवान् ने लक्ष्मी जी के साथ रमण किया था, उसमें चन्दन का लेपन हुआ था।

इसी प्रकार आगे पांचवें श्लोक में जो ताम्बूल का वर्णन किया है, उसमें भी ब्रह्मा तथा लक्ष्मी जी ने पूजा के समय पान खिलाया है, अथवा लक्ष्मी जी के साथ रमण में लक्ष्मी जी ने पान खिलाया है, इस प्रकार जानना चाहिये।

इस प्रकार माला आदि सामग्री सहित भगवान् ने प्रकट होकर गोपियों के ऊपर अनुग्रह विशेष करके देवोत्तम ब्रह्मादिकों का पूजा रूप जो कार्य है वह ब्रजसुन्दरियों के लिये दिखाया है, कारण कि पूजा में स्थापित चन्दनादि का ब्रजसुन्दरियों ने बाहुधारण में प्रत्यक्ष दर्शन किया है ॥ ४ ॥

काचिदञ्जलिनाऽगृह्णात्तन्वी ताम्बूलचर्वितम्।
एका तदङ्घ्रिकमलं सन्तप्ता स्तनयोरधात् ॥ ५ ॥

पदपदार्थ—(काचित्) कोई गोपी (तन्वी) कोमल अङ्गवाली (ताम्बूलचर्वितम्) पानचर्वित को (अञ्जलिना) अपनी अञ्जलि से (अगृह्णात्) ग्रहण करती हुई (एका) एक गोपी (सन्तप्ता) अत्यन्त विरह से आतुर (तदङ्घ्रिकमलं) भगवान् का चरण-कमल (स्तनयोः) अपने स्तनों पर (अधात्) धारण करती हुई ॥ ५ ॥

भाषार्थ—कोई कोमल अङ्गवाली गोपी भगवान् का चर्वित-खाया पान अपनी अञ्जलि से ग्रहण करती हुई, और एक गोपी विरह से अत्यन्त तप्त हुई भगवान् का चरण-कमल अपने स्तनों में धारण करती हुई ॥ ५ ॥

(सुबो०) एता आरोढुकामाः देवोत्तमास्तु पूजका इति । अतः काचित्ताम्बूलचर्वितमञ्जलिना अगृह्णात् । तस्याः ताम्बूलयोग्यतामाह—तन्वीति । कोमलाङ्गी । एका पुनर्बहिः स्थिता साक्षात्संबंधमलभमाना, उत्थातुं वा अशक्ता, उपविश्यैव तदङ्घ्रिकमलं स्तनयोरधात् । अनुत्थाने धारणे च हेतुः सन्तप्तेति । सा ह्यत्यन्तं विरहातुरा ॥ ५ ॥

इस प्रकार वनमाला पीताम्बर चन्दन आदि सामग्री सहित प्रकट होकर भगवान् ने गोपियों पर विशेष अनुग्रह किया है, और देवोत्तम ब्रह्मा आदि का गोपियों को कार्य दिखाया ।

गोपियां ऊपर चढ़ने की इच्छा वाली हैं, और ब्रह्मादि देवोत्तम तो पूजन करने वाले हैं, अर्थात् देवोत्तम और गोपियां दोनों का कार्य भिन्न भिन्न है, अतः कोई गोपी भगवान् का पान-चर्वित अपनी अञ्जलि से ग्रहण करती हुई ।

इस गोपी की ताम्बूल ग्रहण करने में योग्यता कहते हैं कि (तन्वी) यह गोपी कोमल अङ्गवाली है, कोमल अङ्गवाली स्त्री की चर्म मृदु होती है, इसलिये खाया हुआ पान कण्ठ में प्रति फलित-यथावत् दीखता है, इससे अधिक शोभा होती है, अतः परम सुन्दरी इस गोपी की शोभा देखने के लिये भगवान् ने अपना चर्वित पान दिया है, इसी का नाम ताम्बूल-योग्यता है ।

एक गोपी तो फिर मण्डल से बाहिर स्थित थी, इसलिये इसको साक्षात् भगवान् का सम्बन्ध नहीं हुआ ।

यह बात पहिले कह चुके हैं कि सब गोपियां भगवान् के निकट आ गईं, फिर मण्डल से बाहिर स्थित थीं, इसलिये इसको भगवान् का साक्षात् सम्बन्ध नहीं हुआ, तो फिर इसकी मण्डल से बाहिर स्थिति कैसे संभव हो सकती है ।

इस प्रकार पूर्व व्याख्यान में अरुचि आने पर पक्षान्तर कहते हैं कि 'अथवा इस गोपी में उठने की सामर्थ्य नहीं थी, इसलिये बैठे ही बैठे भगवान् का चरणकमल अपने स्तनों में धारण कर लिया ।

इस गोपी में उठने की सामर्थ्य क्यों नहीं थी, और चरणकमल धारण कर लिया, इन दोनों का कारण कहते हैं कि (सन्तप्ता) यह गोपी विरह से अत्यन्त आतुर थी ॥ ५ ॥

एका भ्रुकुटिमाबध्य प्रेमसंरम्भविह्वला ।
दन्तैरैक्षत् कटाक्षेपैः सन्दष्टदशनच्छदा ॥ ६ ॥

पदपदार्थ—(एका) एक गोपी (प्रेमसंरम्भविह्वला) प्रेमसहित क्रोध से विह्वल घबड़ाई (भ्रुकुटिम्) भौंह को (आबध्य) चढ़ाकर (सन्दष्टदशनच्छदा) अच्छे प्रकार से डस लिया—दबा लिया दांतों से होठ जिसने, अर्थात् दांतों से होठ को दबाती हुई (कटाक्षेपैः) कटाक्षों के फेंकने से (दन्तीव) मारती सी (ऐक्षत्) देखने लगी ॥ ६ ॥

भाषार्थ—एक गोपी प्रेमसहित क्रोध से विह्वल अपनी भ्रुकुटि को चढ़ाकर और दांतों से होठ दबा कर कटाक्षों से प्रहार करती सी देखने लग गई ॥ ६ ॥

(सुबो०) एकेति । अन्यथा पुनर्दूरस्था तामसी तमसा भ्रुकुटिमाबध्य कटाक्षेपैः दन्तीव ऐक्षत् । अत्र सवर्णे वर्णलोपः । कटाक्षक्षेपैरित्यर्थः । प्रेम्णा सहितो यः संरम्भः क्रोधः तेन विह्वला । सम्यक् दष्टः दशनच्छदो यया । तादृशी च जाता । भ्रुकुटिबन्धनेन चित्तकौटिल्यम् । प्रेमसहितसंरम्भेण इन्द्रियवैक्लव्यम् । सन्दंशेन देहक्षोभः । दन्तीवेति प्राणैर्बलस्फूर्तिः । ज्ञानसाधनमपि तस्या विकृतम् । प्रान्तदृष्टिः कटाक्षः । तत्रापि आक्षेपभावः । यथा वाचावगुरणम्, तथा कटाक्षा एव आक्षेपरूपाः निरन्तरं प्रवृत्ताः । तादृशभावस्य पूर्णत्वाय कालनियमनार्थं वा भ्रुकुटिभङ्गः । स्वभावनियमनार्थं च संरम्भः । लोभनाशार्थं दंशः । मोक्षाभावार्थं ज्ञानवक्रता । प्रमाणनिराकरणार्थं हननमिति । यतो लौकिकभक्तिः पुष्टा भवति । एतदर्थमेषा निरूपिता ॥ ६ ॥

अन्य तामसी गोपी तो फिर दूर में स्थित थी, अर्थात् जितनी दूर खड़े रहकर कटाक्ष मारने से अपना मान भाव रहता है, उतनी दूर स्थित थी, और तम-क्रोध से अपनी भौंह चढ़ा कर कटाक्ष फेंकने से प्रहार करती-सी देखने लग गई, 'कटाक्षेपैः' इस पद में सवर्ण होने पर वर्ण का लोप हो गया है, अर्थात् एक से वर्ण जब साथ-साथ होते हैं, तब पूर्व वर्ण का लोप हो जाता है, उक्त नियमानुसार एक 'क्ष' वर्ण का लोप हो गया है, अतः 'कटाक्षक्षेपैः' कटाक्ष के फेंकने से, इस प्रकार अर्थ होता है ।

प्रेम के सहित जो संरभ-क्रोध, उससे विह्वल अच्छे प्रकार से दष्ट-दबाया दांत से होठ जिसने, अर्थात् यह गोपी अपने होठ को दाँतों से दबा कर भगवान को कटाक्ष से प्रहार करने लग गई ।

प्रेमसहित संरम्भ-क्रोध से इन्द्रियों की विकलता सूचन की है, दांतों से होठ दबाने से देह के लिये क्षोभसूचन किया है, प्रहार करती-सी देखने से प्राणों से बल की स्फूर्त्ति कही है, इस गोपी का ज्ञान-साधन-नेत्र भी विकृत कहा है ।

नेत्र के अग्रभाग से देखने का नाम कटाक्ष है, इस कटाक्ष में भी आक्षेपभाव है ।

जिस प्रकार वाणी से किसी को धमकाते हैं उसी प्रकार इस गोपी के कटाक्ष आक्षेपरूप-धमकी देते हुए निरन्तर प्रवृत्त हो रहे हैं ।

भौंह चढ़ाने आदि का कारण अन्य भी श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि 'तादृशभावस्य' ।

इस प्रकार के भाव को पूर्णता स्थापन करने के लिये काल का नियमन करना चाहिये, अतः काल का नियमन करने के लिये इस गोपी ने भ्रूभङ्ग किया है ।

स्वभाव-नियमन करने के लिये क्रोध किया है। लोभनाश करने के लिये दाँतों से होंठ दबाया है।

मोक्ष के अभाव के लिये ज्ञान की वक्रता है अर्थात् पहिले मानमात्र का निरूपण किया था, इस समय तो मान दूर करने के लिये सकड़ों प्रयत्न करने पर भी मैं मान त्याग नहीं करूंगी, इसका नाम गाढमान है, इस प्रकार यहां गाढ मान का निरूपण करते हैं।

कालविलम्ब से मान शिथिल हो जाता है, कारण कि मान व्यभिचारी भाव है, इसलिये बहुत काल तक स्थिर नहीं रहता है, यहां पर मान गाढ है, इसलिये यह मान कभी शिथिल नहीं होता है, सदा गाढ ही रहता है, इस प्रकार सदैव गाढ मान रखना ही काल का नियमन है।

नायिका का स्वभाव होता है कि प्रिय के वचन आदि से मान को अवश्य त्याग देती है, उस मान का त्याग नहीं हो, हमारे में सदैव मानभाव ही रहे, इस प्रकार गोपियों का प्रयत्न है, इसलिये स्वभाव नियमन, प्रिय वचन से मानत्याग जो नायिकाओं का स्वभाव है, उसका नियमन अल्प प्रयत्न से नहीं हो सकता है, इसलिये उक्त स्वभाव का नियमन करने के लिये संरम्भ-क्रोध का निरूपण किया है।

मान प्रिय के संगम में विलम्ब करता है, इसलिये दुःख देने वाला है, फिर गोपियों ने मान क्यों किया ?

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि गोपियों को इस प्रकार का विचार उत्पन्न नहीं हुआ कि हम मान करेंगी तो प्रियसंगम में विलम्ब हो जायेगा, कारण कि गोपियां विह्वल हो गई थीं, इस बात को सूचन करने के लिये मूल में विह्वल पद का प्रयोग किया है।

गोपियों ने पहले भगवान् के साथ सुख का अनुभव किया था कदाचित् पूर्व अनुभूत संगमसुख का स्मरण करके सुख के लोभ से मान का त्याग हो जाये, किन्तु उक्त प्रकार से भी मान का त्याग न हो, इसके लिये दांतों से होठ का दबाना कहा है।

इस प्रकार अत्यन्त आग्रह होने पर भी अपने प्रिय की स्थिति आवश्यक है, और मान भी हृदय में रहता है, इसलिये कदाचित् गोपियों के हृदय का यदि भगवान् में लय हो जाये, तब भी मानरहित गोपियां हो जायें, और निर्दोष होने से गोपियों को मोक्ष हो जाये, किन्तु उक्त प्रकार से मानरहित गोपियां नहीं हों, इसलिये ज्ञान में कुटिलता का वर्णन किया है।

जहां तक हृदय में दोष रहता है, वहां तक मोक्ष नहीं होता है, कुटिलता-दोष के कारण गोपियों को मोक्ष नहीं हुआ, कारण कि निर्दोष भाव में धर्मी हृदय की मुक्ति हो जाती है।

गोपियों का भाव दोषसहित है, इसलिये दोषसम्बन्ध से जहां धर्मी हृदय की भी मुक्ति नहीं, वहां फिर मान की मुक्ति कैसे हो सकती है, यह भाव है, मोक्ष के अभाव के लिये ज्ञान में वक्रता कही है।

प्रमाण निराकरण करने के लिये हनन कहा है।

'सर्वस्येशानः' भगवान् सब के ईश हैं, 'य आत्मानमन्तरो यमयति' जो भगवान् भीतर स्थित आत्मा का नियमन करता है, इत्यादि श्रुतियां भगवान् में ईश नियामक आदि धर्मों का वर्णन करती हैं, इस प्रकार के धर्म वाले भगवान् की आज्ञा का उल्लङ्घन-नहीं मानना, तथा प्रभु के आगे स्तब्धता आदि करना प्रमाण-शास्त्र से विरुद्ध है। और प्रभु तो गोपियों के अन्तःकरण में जो मान है, उसको दूर करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु गोपियों के अन्तःकरण से मान दूर नहीं

होता है, यह बात प्रमाण-शास्त्र से विरुद्ध है, इसलिये संभव नहीं होती है, किन्तु प्रमाण बल का निराकरण करने पर संभव हो जाती है, इसलिये गोपियों ने प्रमाणबल का कटाक्षों से हनन ही किया है।

इस प्रकार करने से लौकिकी भक्ति-लौकिक रीति का अनुसरण करने वाला स्नेह पुष्ट होता है, इसलिये इस गोपी का वर्णन किया है ॥ ६ ॥

अपराऽनिमिषद्दृग्भ्यां जुषाणा तन्मुखाम्बुजम् ।
आपीतमपि नातृप्यत्सन्तस्तच्चरणं यथा ॥ ७ ॥

पदपदार्थ—(अपरा) अन्यगोपी (तन्मुखाम्बुजम्) भगवान् के मुखकमल को (अनिमिषद्-दृग्भ्यां) एकटक दृष्टि से—जिसमें पलक नहीं लगे, इस प्रकार की दृष्टि से (जुषाणा) पान करती (यथा) जैसे (सन्तः) सन्तपुरुष (तच्चरणं) भगवान् के चरण कमल को (आपीतमपि) समग्र रसपान करके भी (न) नहीं (अतृप्यन्) तृप्त नहीं हुए, उसी तरह गोपी भी (नातृप्यत्) तृप्त नहीं हुई ॥ ७ ॥

भाषार्थ—एक अन्य गोपी भगवान् के मुखकमल को जिसमें पलक नहीं लगे इस प्रकार की एकटक दृष्टि से पान करती जिस प्रकार संतपुरुष भगवान् के चरण कमल के रस का पान करते हुए भी तृप्त नहीं होते हैं, उसी प्रकार तृप्त नहीं हुई ॥ ७ ॥

(सुबो०) एवमतिपुष्टां निरूप्य अत्युत्तमां निरूपयति अपरेति। एषा हि भगवद्दर्शनेन गतदोषा अतो ध्यानेन भगवन्तं हृदये स्थापयितुकामा नेत्राभ्यां नेत्रद्वारा भगवन्तं हृदि स्थापितवती। अत्र लावण्यामृतं पेयम्, मुखस्याम्बुज-त्वोक्तेः। अनिमिषद्दृग्भ्यामिति पानकरणम्। द्रवद्द्रव्यस्यान्तर्निवेशनं पानम्। मध्ये रसविच्छेदो भविष्यतीति अनिमिषद्दृग्भ्यां पानम्। नेत्रयोरञ्जलित्वं लाव-ण्यामृतस्य विरलत्वात्। प्रीतिसेवनमत्राभिप्रेतम्। यद्यपि आसमन्ताद्धर्मसहितां सर्वमेवाभिनिविष्टं स्वाधीनं जातम्। यदैवेच्छति तदैव हृदये पश्यतीति तथापि नातृप्यत् अलंभावं न कृतवती। तत्र हेतुर्विषयसौन्दर्यम्। न तु प्रयोजना-भावः प्रतिबन्धकः। एतदर्थं दृष्टान्तमाह—सन्तः तच्चरणं यथेति। सन्तो हि जातकार्याः। तथापि चरणारविन्दे सहजो रसः। न तु किञ्चित् प्राप्तव्यं निवर्तनीयं वा ॥ ७ ॥

इस प्रकार अतिपुष्ट गोपी का निरूपण करके, आगे जिस गोपी का वर्णन करते हैं, वह गोपी तो भगवान् के दर्शन करके दोषरहित हो गई है, अर्थात् पहले दुःख को भूल गई है, इसलिये ध्यान से भगवान् को अपने हृदय में स्थापन करने की इच्छावाली नेत्रद्वारा भगवान् को अपने हृदय में स्थापन करती है।

यहां लावण्यरूप अमृत पान करने योग्य है, कारण कि मुख को कमल कहा है, जिस प्रकार कमल का स्थापन करने पर मकरन्द का स्थापन होता है, उसी प्रकार भगवान् के मुख का स्थापन करने पर लावण्य स्थापित होता है।

मूल श्लोक में 'अनिमिषद्दृग्भ्यां' जिसमें पलक लगते नहीं हैं, इस प्रकार की दृष्टि से, इस प्रकार कहा है, अतः दृष्टि से लावण्यामृत का पान किया है, द्रवत्-प्रवाही पतले द्रव्य का भीतर निवेश करने का नाम पान है, प्रवाही पदार्थ का भीतर प्रवेश करने के समय मध्य में रस के प्रवाह का विच्छेद हो जायेगा, अर्थात् रुक जायेगा, इस बात को विचार करके रस के प्रवाह की धारा बीच में टूटे नहीं, इसलिये गोपी अनिमिष दृष्टि से पान कर रही है।

लावण्यामृत विरल है, इसलिये गोपी नेत्ररूप अञ्जलि से दोने की तरह पुटाकार से पान करती है।

यदि शंका करो कि यहां पान अर्थ किस प्रकार से है। तब इसके उत्तर में कहते हैं कि मूल श्लोक में 'जुषाणा' पद कहा है, इससे प्रीतिसेवन अर्थ यहां इष्ट है, 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' इस प्रकार।

यद्यपि जुष् धातु का अर्थ कहीं प्रीति करते हैं, और कहीं सेवा करते हैं, तथापि यहां मूल में प्रीति अर्थ की अन्य धातु को तथा सेवा अर्थ की अन्य धातु को छोड़कर जो जुष् धातु का प्रयोग किया है, इससे जाना जाता है कि यहां प्रीतिपूर्वक सेवा करना अर्थ इष्ट है, अतः मुखकमल का प्रीतिसेवन नाम मुख में स्थित लावण्यामृत का पान करना है, किन्तु हृदय में स्थापन के बिना प्रीतिसेवन होता नहीं है, अतः इस हेतु से उक्त अर्थ कहा है।

यद्यपि धर्मसहित सब ही हृदय में अभिनिविष्ट स्वाधीन हुआ है, अर्थात् मूल में 'आपीतं' इसमें आङ् के प्रयोग से इस गोपी ने समग्र धर्मसहित लावण्यामृत का पान किया है, इसलिये स्वाधीन हुआ है, स्वाधीन का स्वरूप इस प्रकार है कि गोपी जिस समय भगवान् के मुखकमल की अपने हृदय में इच्छा करती है, उसी समय भगवान् का मुखकमल अपने हृदय में देखती है, तथापि इस गोपी की तृप्ति नहीं होती है, अर्थात् लावण्यामृत का पान करते-करते अलंभाव नहीं करती है अलंभाव न करने में कारण विषय सौन्दर्य है, अर्थात् भगवान् के मुखकमल में इतना सौन्दर्य है कि जिसके पान करते-करते गोपी अघाती नहीं है।

यदि कहो कि विषय सौंदर्य होने पर भी प्रतिबन्धक विद्यमान है, इसलिये पान सम्भव नहीं होता है।

इस शंका के उत्तर में श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि 'न तु प्रयोजनाभावः प्रतिबन्धकः' इस समय इस गोपी के लिये किसी प्रकार के प्रयोजन का अभाव भी प्रतिबन्धक नहीं है, अर्थात् जब इस गोपी ने भगवान् का मुखकमल अपने अधीन कर लिया, फिर अन्य प्रयोजन शेष रहा नहीं, तो प्रयोजन का अभाव पान करने में प्रतिबन्धक हो सकता है, किन्तु प्रयोजन का अभाव भी यहां प्रतिबन्धक नहीं है।

इसी को स्पष्ट करने के लिये दृष्टान्त कहते हैं (सन्तः तच्चरणं यथा) यद्यपि सन्त पुरुष अपना सब कार्य पूर्ण करके कृतकृत्य हो जाते हैं, तथापि भगवान् के चरणारविन्द में सन्तपुरुषों को स्वाभाविक रस है, किसी प्रयोजन से नहीं है, कारण कि संत को कोई नवीन प्राप्तव्य नहीं है, और न कोई त्याग करने योग्य ही है ॥ ७ ॥

तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण हृदिकृत्य निमील्य च।
पुलकाङ्ग्युपगूह्यास्ते योगीवानन्दसम्प्लुता ॥ ८ ॥

पदपदार्थ—(काचित्) कोई गोपी (नेत्ररंध्रेण) नेत्रद्वार से (तं) उस भगवान् को (हृदिकृत्य) हृदय में धारण करके (च) और (निमील्य) आँखें मींचकर (पुलकाङ्गी) रोमाञ्च अङ्ग में जिसके, इस प्रकार की (उपगूह्य) भगवान् का आलिङ्गन करके (आनन्द-संप्लुता) आनन्द में मग्न हुई (योगीव) योगी की तरह (आस्ते) स्थित हो गई ॥ ८ ॥

भाषार्थ—कोई गोपी नेत्र द्वार से भगवान् को हृदय में धारण करके और आँखें मींचकर पुलकाङ्गी आलिङ्गन करके योगी की तरह आनन्द में मग्न हो गई ॥ ८ ॥

(सुबो०) एका पुनर्दूरस्था अनया तुल्यशीला योगानुसारेण भगवन्तं गृहीतवतीत्याह तं काचिदिति। पूर्वं लौकिकी पश्चाद् भक्तिमार्गानुसारिणी निरूपिता। इयं योगानुसारिणी। अतोऽस्याः सर्वविषये दृष्टिः। उभयोरेकीकरणम्, अन्यथा दृष्टिभेदः स्यात्। पूर्वस्यास्तु दर्शनमेव प्रयोजनम्। एषा विरलेति काचिदित्युक्तम्। तं पूर्वोक्तम्। 'न खलु गोपिकानन्दनो भवानि'ति यया निरूपितम्। नेत्ररंध्रेणेत्येकवचनं रूपप्रवेशार्थम्। हृदिकृत्येति। हृदि कृत्वा असमासेऽपि ल्यप्। हृदिकृत्येत्यलुक् समासो वा। ततोऽन्तःप्रविष्टो बहिर्मा गच्छत्विति निमीलनं कृतवती। न हि तस्या बुद्धौ भगवान् बहिरवशिष्टोऽस्ति। स्वकीयो वा भागस्तया गृहीत इति। चकारात् सर्वेंद्रियनिवर्तनम्। ततोऽन्तरानन्दे पूर्णे पुलकाङ्गी जाता। केवलानन्देन पुलके गोपीत्वं न भविष्यतीति तदर्थं विशेषमाह उपगूह्यास्त इति। अयं रोमाञ्चः सात्त्विकभावे प्रविष्टः। अत एवान्तरुपगूह्यालिङ्ग्य आस्ते। तामेव स्थितिं धारितवती अवस्थान्तराभावाय। ननु तस्या उत्तरत्र कार्यम्, भगवता सह सम्भोगः कर्तव्यः, आलापाः, गृहे च गन्तव्यमिति कथं तामेवावस्थां स्थापितवती, तत्राह योगीवेति। योगी हि तयैवाग्रे सर्वं कार्यं साधयति, तथेयमपि तयैवावस्थया सर्वं साधनीयमिति स्थिता। किञ्च आनन्दसम्प्लुता। आनन्दे निमग्ना। अत एव बहिःसंवेदनरहिता। संवेदनायामेव सत्यां कार्यानुसन्धानम्। न हि पूर्णे आनन्दे कश्चन कामोस्ति ॥ ८ ॥

अब एक गोपी फिर दूर में स्थित थी, और पहिले सातवें श्लोक में कही हुई निर्गुण गोपी के तुल्य शील, स्वभाव वाली थी, यह गोपी योगानुसार भगवान् को ग्रहण करती हुई, अर्थात् अपने हृदय में स्थापन करती है, इस बात को शुकदेव जी कहते हैं।

पहले छठा श्लोक 'एका भ्रुकुटिमाबध्य' इसमें लौकिकी सरूप भाववाली गोपी का निरूपण किया है, फिर सातवें-श्लोक में भक्तिमार्गानुसारिणी गोपी का निरूपण किया है, भक्तिमार्ग में स्नेह-वश से भगवान् के मुखारविन्द का दर्शन करने पर सबका विस्मरण होकर मुखारविन्द से अन्य वस्तु की अपेक्षा रहती नहीं है, इस प्रकार की गोपी सातवें श्लोक में कही गई है।

अब इस आठवें श्लोक में योगमार्गानुसारिणी गोपी का वर्णन है, योग मार्ग में ध्यान करते समय में भगवान् के प्रत्येक अङ्ग का पृथक्-पृथक् चिन्तन किया जाता है।

तथा धारणा में इकट्ठे सब अङ्गोंद्वारा एक स्वरूप का चिन्तन किया जाता है, कारण कि अङ्गों के परस्पर सम्बन्धका स्मरण किये विना एक अङ्गका स्मरण करना अनुचित होने से अपराध रूप है, इसलिये इस गोपी की सब अङ्गों में दृष्टि है, अर्थात् भगवान् के सम्पूर्ण स्वरूप का ही नेत्रद्वारा हृदय में स्थापन किया है, और इस गोपी ने दोनों अवयवों का एकीकरण किया है।

यद्यपि यहां मूल में 'उभयोः' के स्थान में 'सर्वेषां' सब अवयवों का एकीकरण करना कहना चाहिये था, किन्तु संयोग दोनों का ही होता है, इसलिये 'उभयोः' इस द्विवचन का प्रयोग किया है।

यदि एकीकरण नहीं करे तो दृष्टिभेद हो जाये, प्रकृत-गोपियों के प्रसङ्ग में तो भगवान् का स्वरूप रसात्मक होने से भावात्मक है, इसलिये भगवान् का एक एक ही अङ्ग स्वामिनी भाव विषयत्व है, अतः उसमें परस्पर भेद की आपत्ति होती है, वह भेद की आपत्ति उक्त भाव से-भगवान् के सभी श्री अङ्ग के अवयवों का एकीकरण करने से दूर हो गई है, इस बात को 'अन्यथा दृष्टिभेदः स्यात्' नहीं तो दृष्टिकृत भेद स्वरूप में हो जायेगा उक्त पङ्क्ति से श्री महाप्रभुजी ने कहा है, अर्थात् इस आठवें श्लोक में ही गोपी भगवान् के संपूर्ण अङ्गों का एकीकरण करती है इसलिये भगवत्स्वरूप में प्राप्त हुआ भेद दूर हो जाता है।

यदि कहो कि विषयत्व से स्वरूप के भाव से भेद हो जायेगा तो फिर दृष्टिभेद दोष नहीं होगा।

इसके उत्तर में कहते हैं कि इस प्रकार का कोई नियम नहीं है, सब ज्ञान प्रमेय है, इत्यादि में व्यभिचार हो जायगा, कारण कि ईश्वर का ज्ञान सर्वविषयक है, इसलिये अपने विषयक ज्ञान भी सर्वविषयक है, यह सिद्धान्त सर्ववादिसम्मत है।

प्रकृत विषय-गोपियों के प्रसङ्ग में तो भगवान् का स्वरूप स्वयंप्रकाश चिद्रूप है, इसलिये कोई अयुक्ति नहीं है, अर्थात् विषय विषयी के अभेद की अनुपपत्ति, तथा दृष्टि भेदकृत अपराध की अनुपपत्ति नहीं है।

प्रकारान्तर से अनुपपत्ति को हृदय में करके कहते हैं कि केवल योगमार्ग में अपराधमात्र है, योगानुसारी भक्तिमार्ग में तो स्वरूप में भी भेद की आपत्ति होती है।

ये सब भाव व्यभिचारी हैं, इसलिये इन भावों को स्वरूपभेदकत्व नहीं है, स्थायिभाव स्वरूप भेदक होता है, इसलिये स्थायिभाव का समाधान करना आवश्यक है।

योगमार्ग में ध्यान करने के समय प्रत्येक अङ्ग का पृथक् चिन्तन किया जाता है, इसको पहले कह चुके हैं, इसलिये उक्त दोष योगमार्ग में ही है, किन्तु भक्तिमार्ग में नहीं है, कारण कि पहले सातवें श्लोक में कही गोपी भक्ति मार्गानुसारिणी है, इसलिये इसको भगवान् का दर्शन ही प्रयोजन-फल है, इसको रूपकल्पना की अपेक्षा नहीं है, यह बात 'पूर्वस्यास्तु दर्शनमेव प्रयोजनं' इस प्रकार सुबोधिनी में एवकार से बतलाई है, अर्थात् परिदृश्यमान ही स्वरूप हृदय में स्थित होता है, यह भाव है।

अब इस आठवें श्लोक में कही भगवान् के स्वरूप को योगानुसार से ग्रहण करनेवाली गोपी दुर्लभ है, इसलिये शुकदेव जी ने मूल श्लोक में 'काचित्' शब्द का प्रयोग किया है।

मूल में 'तं' पद से भगवान् का बोध होता है, 'न खलु गोपिकानन्दनो भवान्' इस प्रकार गोपीगीत में जिस गोपी ने भगवान् का वर्णन किया था, वही यह गोपी है।

मूल श्लोक में 'नेत्ररन्ध्रेण' इस पद में एक वचन भगवान् का स्वरूप प्रवेश करने के लिये कहा है, अर्थात् भगवान् का स्वरूप सर्व अङ्ग समुदित एक है, इसलिये स्वरूप प्रवेश करने के लिये एक नेत्रद्वार की आवश्यकता ही है।

मूलश्लोक में 'हृदिकृत्य' इसका अर्थ 'हृदि कृत्वा' हृदय में धारण करके, इस प्रकार होता है, 'हृदिकृत्य' इसमें समास नहीं है. फिर भी जो ल्यप् प्रत्यय किया है, वह ल्यप् प्रत्यय समास विना पाणिनीय से भिन्न व्याकरण में सिद्ध किया है, इस लिये श्रीमहाप्रभुजी पक्षान्तर कहते हैं कि 'हृदिकृत्य' इसमें अलुक् समास है 'हृद्द्युभ्यां च' इस पाणिनीयसूत्र से यहां अलुक् समास हुआ है।

भीतर प्रविष्ट भगवान् पश्चात् बाहर न जायें, इस भावसे इस गोपी ने नेत्र मींच लिये हैं।

इस गोपी की बुद्धि से बाहर भगवान् अवशिष्ट नहीं हैं, भगवान् का सर्वस्वरूप मेरे हृदय में विराजमान हो गया है।

अथवा इस गोपी ने अपना भाग ले लिया है।

भगवान् प्रत्येक गोपी के प्रति प्रकट होकर रसदान करते हैं इसलिये भगवान् सब गोपियों के भाग-हिस्सारूप हैं।

जिस गोपी के लिये भगवान् का जो प्रकट रूप है, वह उस गोपी का भागरूप है, इस लिये इस गोपीने अपने लिये भगवान् का प्रकट भागरूप स्वरूप अपने हृदय में पधरा लिया।

इस प्रकार कहने से यह सूचन किया है कि जिस प्रकार पिता के धन में पुत्रों का स्वत्व होता है, उसी तरह प्रभुके स्वरूप में स्वामिनियों का स्वत्व-भाग है।

मूल श्लोक में 'च' है, इसका आशय इस प्रकार है कि इस गोपी की सब इन्द्रियाँ भी निवृत्त हो गई हैं।

अनन्तर इस गोपी के भीतर पूर्ण आनन्द हुआ है, और उस समय इसके शरीर में रोमाञ्च हो गये।

यदि केवल आत्मानन्द से रोमांच खड़े हों तो गोपीत्व नहीं रहेगा, अर्थात् जिस प्रकार योगियों के भीतर जिस समय भगवान् का आविर्भाव होता है, उस समय आनन्द से योगियों का शरीर पुलकित होता है, उस प्रकार से इस गोपी का शरीर पुलकित नहीं हुआ है, इस बात को कहने के लिये शुकदेवजी विशेष कहते हैं कि (उपगूह्यास्ते) यह गोपी तो भगवान् का आलिङ्गन करके स्थित हो गई है, आलिङ्गन में कामभाव मुख्य है, इसलिये इसमें गोपीत्व ही प्रधान है, योगरीति प्रधान नहीं है।

रसशास्त्र में रोमाञ्च होने को सात्त्विक भाव कहा है, इसीलिये यह गोपी भीतर भगवान् का आलिङ्गन करके स्थित है। अन्य अवस्था न आने के लिये इसी अवस्था से अर्थात् भगवान् के साथ आलिङ्गन की अवस्था से स्थिति को धारण कर रही है।

यदि शंका करो कि इस गोपी को पीछे का कार्य भी करना है, अर्थात् भगवान् के साथ सम्भोग करना है, भगवान् के साथ आलाप-रससम्बन्धी बातचीत भी करनी है, और घर में भी जाना है, फिर अन्य अवस्था न हो, इसी अवस्था में रहना किस प्रकार संभव हो सकता है।

इस शंका के उत्तर में शुकदेवजी कहते हैं कि 'योगीव' योगियों की तरह, योगी लोग

इसी अवस्था से आगे सब कार्य साधन करते हैं, उसी प्रकार यह गोपी भी योगी की तरह इसी आलिङ्गन अवस्था से सब कार्य साधन करूंगी, इस प्रकार के ज्ञान से बैठी है।

दूसरी बात यह है कि वह गोपी आनन्द में मग्न हो गई है, इसलिये इसको उक्त प्रकार का अनुसन्धान भी नहीं है, इसी बात को शुकदेवजी कहते हैं कि 'आनन्दसंप्लुता' आनन्द में निमग्न हो गई है, इसलिये बाहर जगत का इसको ज्ञान नहीं रहा; बाहर का ज्ञान इस गोपी को हो तो कार्य का भी अनुसन्धान हो, किन्तु जब बाहर का ही ज्ञान नहीं रहा, फिर कार्य का अनुसन्धान कैसे होता।

जिस समय जीव में पूर्ण आनन्द होता है, उस समय किसी प्रकार का काम अभिलाष इच्छा नहीं होती है ॥ ८ ॥

(सुबो०) एवं विशेषाकारेण कृत्यमुक्त्वा सर्वासां सामान्याकारेण प्रयोजनमाह सर्वास्ता इति।

इस प्रकार गोपियों का विशेषाकारसे कार्य कहकर अब शुकदेवजी ने सामान्याकार से सब गोपियों का प्रयोजन सम्पादन किया। विरह से उत्पन्न जो ताप है, उसका निवृत्तिरूप फल का निरूपण करते हैं—

सर्वास्ताः केशवालोकपरमोत्सवनिर्वृताः।
जहुर्विरहजं तापं प्राज्ञं प्राप्य यथा जनाः ॥ ९ ॥

पदपदार्थ—(ताः) पूर्वोक्त वे (सर्वाः) सब गोपियोंने (केशवालोकपरमोत्सवनिर्वृताः) केशव भगवान् के दर्शनरूप परम उत्सव से आनन्दित हुईं (यथा) जिस प्रकार से (जनाः) अधिकारी मनुष्य (प्राज्ञं) सुषुप्तिसाक्षी परमात्मा को (प्राप्य) प्राप्त होकर (तापं) ताप को उसी प्रकार (विरहजं) विरह से उत्पन्न ताप को (जहुः) त्याग किया ॥ ९ ॥

भाषार्थ—पूर्वोक्त समस्त गोपियां भगवान् के दर्शन रूप परम उत्सव से आनन्दित हुईं, जिस प्रकार अधिकारी मनुष्य प्राज्ञ-सुषुप्तिसाक्षी परमात्मा को प्राप्त होकर ताप से मुक्त हो जाता है उसी प्रकार गोपियां भगवान् के विरह से उत्पन्न ताप का त्याग कर चुकी थीं ॥ ९ ॥

(सुबो०) यो हि बलिष्ठरजस्तमोभ्यां व्याप्तयोरपि फलसम्पादकः, तस्य क्षुद्रगुणक्षोभयुक्तानामासामुद्धारे कः प्रयास इति वक्तुः केशवेत्युक्तम्। तस्य योयमालोकः आलोकनं प्रकाशो वा अन्तर्बहिः। अत एव स एव परमोत्सवः। यथा लौकिकानां महाराज्यप्राप्तिः पुत्रोत्सवो वा। तेन निर्वृताः सर्वा एव जाताः। एवं तासामिष्टसिद्धिरुक्ता। अनिष्टनिवृत्तिमाह जहुर्विरहजमिति। नन्वेवं सति मुक्ता एव ता भवेयुः। न हि संसारे निवृत्ते भगवत्साक्षात्कारेण परमनिर्वृतौ सत्यां कश्चन पुरुषार्थोऽवशिष्यते तत्राह प्राज्ञं प्राप्येति। प्राज्ञः सुषुप्तिसाक्षी। स्वाप्यये भगवदाविर्भावो निरूपितः। तत्र च जीवानां प्रवेशो वासनासहितानाम्। तं प्राप्य यथा जनाः अधिकारिणो मनुष्याः पुनरायान्ति, एवमत्राप्यागमिष्यन्तीति भावः। यतो जनाः जायमानाः। न तु उत्तमाधिकारिणः। स्वसम्बन्धख्यापनार्थमेव परं भगवान् प्रकटः ॥ ९ ॥

जो केवल भगवान् बलिष्ठ रजोगुण तथा तमोगुण करके व्याप्त ब्रह्मा तथा शिव को मोक्ष फल सम्पादन करने वाला है, उस भगवान् को क्षुद्रगुण से क्षोभयुक्त गोपियों के उद्धार करने में क्या प्रयास है, अर्थात् कुछ भी प्रयास नहीं है, इस बात को कहने के लिये मूल में 'केशव' पद कहा है, केशव—क–ब्रह्मा ईश–महादेव, इन दोनों को 'व' मोक्षरूप सुख जिस भगवान् से होता है, वह केशव है।

गोपियों के तथा भगवान् के सब गुण महान हैं, किन्तु गोपियों का परोक्ष भजन का अज्ञान क्षुद्र गुण है, इस प्रकार गोपियों का उद्धार करने में भगवान् को श्रम नहीं होगा, इस बात को 'केशव' पद से यहां कहा है, इस प्रकार के केशव भगवान् का जो यह आलोक–आलोकन–दर्शन अथवा भीतर बाहर प्रकाश, इसी से—अर्थात् भीतर बाहर विद्यमान होने से ही आलोक परम उत्सव रूप है।

जिस प्रकार जगत में लौकिक जीवों को महाराज्य की प्राप्ति से, अथवा पुत्रादि प्राप्ति से परम उत्सव होता है, उसी प्रकार गोपियों को केशव भगवान के दर्शन से, अथवा भीतर बाहर प्रकाश से परम उत्सव हुआ, इस परम उत्सव से सब गोपियां आनन्दयुक्त तो गईं।

मूल में 'सर्वा एव' सब गोपियां कही हैं।

पहले आठवें श्लोक में एक गोपी ने नेत्ररंध्र द्वारा भगवान को अपने हृदय में स्थापन किया, कहा है, इसलिये प्रकार भेद से सब गोपियों ने भगवान् को स्थापन किया, इस प्रकार जानना चाहिये, इसी बात को स्पष्ट करने के लिये मूल में 'सर्वाः' इस बहुवचन का प्रयोग किया है।

इस प्रकार गोपियों को इष्टसिद्धि प्राप्त हुई कही है, अब गोपियों की अनिष्ट निवृत्ति भी हो गई, इसको कहते हैं 'जहुर्विरहजम्' गोपियां विरह से उत्पन्न ताप का त्याग कर चुकी थीं।

यदि शंका करो कि जब गोपियों को इष्टप्राप्ति और अनिष्ट निवृत्ति हो गई, तब फिर गोपियां मुक्त क्यों नहीं हुईं, कारण कि उस समय अत्यन्त आर्ति से गोपियों के प्राण इन्द्रिय अन्तःकरण और जीव भगवान में प्रविष्ट हो गये थे, और भगवान के सम्बन्ध से परमानन्द को प्राप्त हो गई थीं, इसलिये इस प्रकार की गोपियों को फिर बाहर का अनुसन्धान होना सम्भव नहीं था, अतः गोपियां मुक्त ही हो गई थीं, जिस समय संसार नष्ट हो जाता है, उस समय भगवान के साक्षात्कार से परम आनन्द होता है, परमानन्द प्राप्त होने पर फिर कोई पुरुषार्थ शेष नहीं रहता है।

इस शंका के उत्तर में शुकदेवजी कहते हैं कि 'प्राज्ञं प्राप्य' प्राज्ञ–सुषुप्ति अवस्था का साक्षी भगवान, स्वाप्यय–सुषुप्ति 'स्वमपीतो भवति' इस श्रुति के अनुसार सुषुप्ति में—अर्थात् स्वप्नरहित गाढ़ निद्रा में भगवान का आविर्भाव होता है, 'एवमेवायमात्मा प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः' इस श्रुति में संपरिष्वङ्ग का कथन है।

सुषुप्ति में वासनासहित जीवों का भगवान में प्रवेश होता है, जिस प्रकार संसार के अधिकारी मनुष्य सुषुप्ति में प्राज्ञ को प्राप्त होकर फिर लौटकर आ जाते हैं, अर्थात् सांसारिक जाग्रत अवस्था को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार सब गोपियां भी परमानन्द का अनुभव करके लौट कर पीछे आ जायेंगी, इस प्रकार भाव है।

संसार का अधिकारी मनुष्य प्राज्ञ में प्रवेश करके पीछे जाग्रत अवस्था में प्राप्त हो जाता है, इसका कारण कहते हैं कि (जनाः) जायमान उत्पन्न होने वाले हैं, उत्तम अधिकारी नहीं हैं ।

यदि शंका करो कि संसार के अधिकारी जीवों की तुल्यता गोपियों में कहोगे तो 'तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुः, एवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति' 'सति सम्पद्य न विदुः' 'सति सम्पद्यामहे' इत्यादि श्रुतियों से संसारी जीव में अज्ञान का कथन किया है, गोपियों में भी अज्ञान होगा तो फिर परमानन्द से यहां आयेंगी ।

इस शंका के उत्तर में श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि 'स्वसम्बन्धख्यापनार्थमेव परं भगवान् प्रकटः' भगवान तो गोपियों में केवल अपना सम्बन्ध प्रसिद्ध करने के लिये प्रकट हुए हैं, अपने में गोपियों का लय संपादन करने के लिये प्रकट नहीं हुए हैं, कारण कि भगवान के समागम समय में गोपियों में जो ज्ञान था, वह ज्ञान भगवान की परोक्षभजन दशा में भी था, इस समय की तरह परोक्षदशा में भी तुम्हारे पास स्थित रहता हूँ, किन्तु तुमने मुझको प्रकट नहीं जाना था, अतः परोक्ष भजन समय में भी मेरा सम्बन्ध रहता है, इस बात को ज्ञापन करने के लिये भगवान इस समय गोपियों में प्रकट हुए हैं, इसलिये गोपियों में अन्य जीवों की तरह अज्ञान नहीं है ।

इस प्रकार दृष्टान्त से सुषुप्ति काल में प्राज्ञ में प्रवेश करने वाले संसारी जीवों की अपेक्षा गोपियों का विलक्षण भिन्न प्रकार कहा है, इसीको टिप्पणी में कहा है कि गोपियां लौकिक नहीं हैं, और प्रसिद्ध मुक्तिमार्गीय भी नहीं हैं, किन्तु बाहिर प्रियसंगम की इच्छा करने वाली हैं, और भगवान तो गोपियों के मनोरथ पूर्ण करता ही है, इसलिये गोपियों का मनोरथ पूर्ण करेंगे ।

यहां पर मुक्ति के अधिकारी जीवों से विलक्षणता मात्र में ही दृष्टान्त है, अर्थात् सुषुप्ति समय प्राज्ञ में प्रवेश करने वाले संसारी जीवों के साथ गोपियों की समानता का जो वर्णन किया है, वह केवल सुषुप्ति समय प्राज्ञ में प्रवेश करने वाले जीव जिस प्रकार मोक्ष के अधिकारी जीवों से भिन्न हैं, उसी प्रकार मोक्ष के अधिकारी जीवों से गोपियां भिन्न हैं, बस इस प्रकार की दोनों की तुल्यता है, अन्य प्रकार की नहीं है ॥ ९ ॥

(सुबो०) एवं तासां कृत्यमुक्त्वा ताभिर्भगवत्कृत्यमाह ताभिरिति ।

इस प्रकार भगवान् के प्रति गोपियों का कृत्य वर्णन करके अब गोपियों के साथ भगवान् का कृत्य शुकदेव जी कहते हैं ।

ताभिर्विधूतशोकाभिर्भगवानच्युतो वृतः ।
व्यरोचताधिकं तात पुरुषः शक्तिभिर्यथा ॥ १० ॥

पदपदार्थ—(हे तात) हे पुत्र (विधूतशोकाभिः) शोकरहित (ताभिः) गोपियों से (वृतः) व्याप्त-घिरा हुआ (अच्युतः) च्युतिरहित (भगवान्) श्रीकृष्ण (यथा) जिस प्रकार (पुरुषः) प्राकृतपुरुष (शक्तिभिः) शक्तियों से (तथा) उसी प्रकार (अधिकं) अधिक (व्यरोचत) शोभित हुआ ॥ १० ॥

भाषार्थ—हे तात ! शोकरहित गोपियों से घिरे हुए अच्युत भगवान् जिस प्रकार प्राकृत पुरुष शक्तियों से शोभित होता है, उसी प्रकार अधिक शोभित हुये ॥ १० ॥

(सुबो०) तासां सम्बन्धे प्राकृतीनां भगवतोऽन्यथात्वं शङ्कचेत, तन्निवर्त्यते । अन्यथा स्वार्थमेव भगवत्तिरोधानं स्यात् । 'स नैव व्यरमत्' 'तस्मादेकाकी न रमत' इति श्रुतेः । लोकोऽपि केवलं भगवन्तं पश्यन् न निर्वृतो भवति, किन्तु सर्वशक्तियुक्तं परम् । 'पुंसः स्त्रियाश्च रतयोः सुखदुःखिनोर्ने'ति वाक्यात् । पूर्ववत् ता दुःखिताश्चेत्, तदोत्तमता न भवतीत्याह विधूतशोकाभिरिति । ताः पूर्वोक्ताः । गुणास्तासामुक्ता एव । सर्वथा प्रपन्ना इति । मध्ये शोकः समजनि । तस्मिन्निवृत्ते यथापूर्वमेव ताः । भगवांश्च षड्गुणैश्वर्ययुक्तः । तथापि प्राकृत इव यदि परिच्छिन्नकामः स्यात्, तथापि वैलक्षण्यात् न रोचेत । भगवाँस्तु पूर्वकाम इत्याह अच्युत इति । अतः ताभिर्वृतः अधिकं व्यरोचत सहजापेक्षया । उक्तार्थविश्वासेन हि श्रोता वक्तारं पुष्णातीव पितेव पुत्रं स्वार्थम् । अत एवाग्रेऽतिगुह्यार्थकथनेन वक्ता श्रोतारं सुखयति । अन्यथानधिकारिणं मत्वा न वदेदलौकिकमर्थम् । प्रकृते चास्मिन्नर्थे राज्ञो विश्वासं दृष्ट्वातिसन्तोषेण स्नेहेन च पितृत्वेन सम्बोधयति तातेति । नन्वेवं सति भगवत्कान्तेः तारतम्यात् सहजत्वं न स्यात् । अत आह पुरुषः शक्तिभिर्यथेति । यथायं प्राकृतोऽपि पुरुषः सर्वसामर्थ्येषु लीनेषु लोकप्रतीत्या न रोचत इव, स चेत् क्रियाशक्तीराविष्करोति, तदाधिको रोचते, तथा अयमपि भगवान् रोचमान एव प्रकटासु शक्तिषु गोपिकासु सर्वप्रतीत्या भावुकानामप्यतःकरणेन अधिकं व्यरोचत । अतिसौन्दर्यं प्राप्तवान् । ततो भगवान् परमानन्दयुक्तः स एव । 'एष ह्येवानन्दयाती'ति श्रुतेः ॥ १० ॥

यदि शंका करो कि भगवान् तो सदैव ही रोचमान है, इसको दूसरे की अपेक्षा नहीं है, फिर गोपियों के साथ से अधिक शोभा क्यों कहते हो ? इस शंका का समाधान करते सुबोधिनी में कहते हैं कि (तासां) प्राकृत गोपियों के साथ सम्बन्ध से भगवान् भी प्राकृत होंगे, इस प्रकार शंका हो तो इस १० वें श्लोक में गोपियों का प्राकृतत्व शोभा कथन से निवृत्त करते हैं, अर्थात् गोपियों के प्राकृत होने पर भगवान् भी प्राकृत की तरह क्षीणरस हैं, इस प्रकार की शंका का उदय हो जायेगा, इस शंका का उदय न हो और भगवान् का रस क्षीण न हो इसके लिये शोभा कथन से प्राकृतत्व को निवृत्त करते हैं ।

यदि कहो कि गोपियों का प्राकृतत्व निवृत्त न होने में क्या दोष है ? तो कहते हैं कि यदि गोपियां प्राकृत हों तो गोपियों के सम्बन्ध से भगवान् को भी प्राकृतत्व हो जायेगा, तो फिर भगवान् की अलौकिक शोभा का तिरोधान हो जाने की शंका से भगवान् का तिरोधान हो जायेगा, फिर भगवान् की गोपियों के साथ शोभा भी किस प्रकार हो सकती है, इसलिये 'स्वार्थमेव तिरोधानं' भगवान् का अपने स्वार्थ के लिये तिरोधान हो जाना, अर्थात् अपने लिये प्राकृतत्व प्राप्त न हो जाये, और अपनी अलौकिक शोभा न जाय, भगवान् का तिरोधान हो जायेगा तो फिर गोपियों के साथ अधिक शोभा संभव ही नहीं होती है और न रमण ही हो सकता है, अतः भगवान् का स्वार्थ

ही तिरोधान हो जायेगा, जिस कार्य के लिये भगवान् पधारे हैं, वह सब कार्य ही सिद्ध नहीं होगा, यदि गोपियों का प्राकृतत्व दूर न हुआ तो, अतः प्राकृतत्व निवृत्त किया है।

अब इस १० वें श्लो० की सुबोधिनी में 'अन्यथा स्वार्थमेव तिरोधानं स्यात्' इसके ऊपर स्वतन्त्र लेख है, उसका भाषानुवाद कहते हैं, यहां पर यह आशय है।

भगवान् में स्वामिनियों के सम्बन्ध से उत्पन्न प्राकृतत्व की शंका होती है, उसके दूर करने के लिये, तथा स्वामिनियों में भगवान् के सम्बन्ध की योग्यता होने के लिये, यहां स्वामिनियों में अप्राकृतत्व निरूपण करते हैं।

ब्रह्मभूत होने पर ही जीव अप्राकृत हो सकता है, और ब्रह्मभूत शोकादि के अभाव में होता है।

'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।' इस वाक्य में ब्रह्मभूत का लक्षण कहा है।

इसलिये स्वामिनियों को सांसारिक शोक की संभावना न होने से प्रभु ही स्वामिनियों के लिये शोक उत्पन्न करने को तिरोहित हो गये, और अपना दर्शन न देकर विरह में शोक उत्पन्न करके पश्चात् प्रकट होकर शोक दूर कर दिया, और गोपियां विधूतशोक के कारण ब्रह्मभूत हो गईं, अतः स्वामिनियों को प्रभु ने अप्राकृतत्व ज्ञापन किया है, यदि इस बात को नहीं मानते हैं तो साधारण जगत् में क्रीडा करने के लिये जिस प्रकार भगवान् का जगत् से प्रवेशरूप तिरोहित है, उसी तरह यहां भी प्रवेश रूप तिरोहित होता, तो फिर इतर साधारण की तरह होने से स्वामिनियों में भी प्राकृतत्व ही होता, तो फिर पूर्वोक्त शंका का भी उद्धार नहीं होता।

भगवान् के स्वार्थ का तिरोधान तो 'स वै नैव व्यरमत्' इस श्रुति से ही कह दिया है, इसी लिये सुबोधिनी में श्रुति उपन्यस्त की है, प्रकृत-गोपियों के प्रसङ्ग में तो गोपियों को आनन्द देने के लिये ही भगवान का गोपियों में प्रवेश है, अपनी क्रीडा करने के लिये नहीं है, अतएव मूल में 'वृतः' यह पद कहा है।

भगवान् जगत् में प्रविष्ट हो फिर बाहर प्रकट होकर जगत् से वृत नहीं होता है और न जगत् के सम्बन्ध से भगवान् की सबसे अधिक शोभा ही होती है, इस प्रकार यहाँ शोक और शोक का अभाव दोनों विलक्षण हैं, अतः यहां गोपियों को अप्राकृतत्व बोध करने के लिये ही प्रभु ने इस प्रकार किया है, यह हमारे आचार्यचरण का तात्पर्य सावधान तदीय दासानुदासों को जानना चाहिये।

यदि शंका करो कि भगवान् रसरूप श्रुतिसिद्ध है, इसलिये उक्त शंका का उदय यहां कैसे हो सकता है।

अब इसके उत्तर में कहते हैं 'स नैव व्यरमत्' भगवान् रमण नहीं करता हुआ 'तस्मादेकाकी न रमते' कारण कि 'अकेला रमण नहीं करता है' इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है कि भगवान् की रमण करने की इच्छा है, तो भी स्वयं तिरोहित हो गये, इसलिये किसी को शंका हो कि गोपियां प्राकृत हैं, प्राकृत गोपियों के सम्बन्ध से भगवान भी प्राकृत हो जायें, तो भगवान की अलौकिक शोभा चली जाये, इसलिये इस भय से भगवान गोपियों में से तिरोहित हो गये इस प्रकार की शंका दूर करने के लिये इस श्लोक में स्पष्ट कहा है कि गोपियों के साथ समागम से भगवान् की अलौकिक शोभा अधिक होती है, इसलिये गोपियां प्राकृत नहीं हैं।

रमण भी द्वितीय के अभाव में नहीं होता है, अर्थात् अकेले से नहीं होता है, दूसरा कोई होता है, तभी बन सकता है, इसलिये रमण का अभाव सिद्ध होने पर, उस रमण की तरह यह

रमण भी कभी-कभी हो और 'प्रशमाय प्रसादाय' इस प्रकार पहले कहा भी विरुद्ध हो जाये, इसलिये गोपियों को प्राकृत मानते हैं तो उक्त दोष होता है, और अप्राकृत मानते हैं तो उक्त दोष नहीं होता है, तथापि यहां दृष्टान्त का प्रयोजन क्या है, उसको कहते हैं।

पहले दो अध्याय में कहे अनुसार केवल भावना से भगवान का दर्शन करने से गोपियों को आनन्द प्राप्त नहीं हुआ था, किन्तु इस समय अपने सहित गोपियां भगवान का दर्शन करके अत्यन्त आनन्द को प्राप्त हुई हैं, उसी प्रकार लोक भी केवल भगवान का दर्शन करके आनन्द को प्राप्त नहीं होता है किन्तु सर्वशक्तियुक्त पर भगवान का दर्शन जिस समय करता है, उस समय इनको अत्यन्त आनन्द प्राप्त होता है, भागवत द० स्कं० उत्तरार्ध अ० ६ श्लोक ३८ में श्री रुक्मिणी जी ने कहा है, कि 'पुंसः स्त्रियाश्च रतयोः सुखदुःखिनोर्न'' पुरुष तथा स्त्री, इन दोनों के परस्पर स्नेह में यदि दोनों ही सुखी हों तो समागम में उत्तम रस प्राप्त होता है, और जो दोनों में से एक सुखी एक दुःखी हो तो उत्तमरस प्राप्त नहीं होता है, इस वाक्य से यदि गोपियां पहले की तरह दुःखी हों, और अकेले भगवान् ही सुखी हों तो भगवान् में रसकी उत्तमता नहीं हो, इसी बात को शुकदेवजी कहते हैं, 'विधूतशोकाभिः' गोपियां शोकदुःख रहित हो गईं।

मूल में 'ताभिः' पद कहा है, इससे यह सूचन किया है कि इन गोपियों का वर्णन तथा इनके गुणों का वर्णन पहले कर चुके है।

ये सब गोपियां आपकी सर्व भाव से शरण आई हैं, बीच में गोपियों की शरण भावना दूर हो गई थी, इसलिये गोपियों में शोक उत्पन्न हो गया था, अब इस समय शोक दूर होने पर पहले की तरह गोपियां हो गई हैं।

भगवान् ऐश्वर्य आदि छः गुणयुक्त हैं, तो भी प्राकृत पुरुष की तरह यदि भगवान का काल-परिच्छिन्न-अनित्य काम हो तो गोपियों से भगवान की विलक्षणता होने से शोभा नहीं हो, कारण कि गोपियों में अपरिच्छिन्न-नित्य काम है, इस बात को मूल में 'ताभिः' इस पद से स्मरण करा कर सर्वथा प्रपत्ति से निरूपण किया है।

यदि गोपियों में अनित्य काम होता तो कामभाव दशा में प्रपत्ति होना असम्भव है, काम-भाव में सर्वथा प्रपत्ति नहीं होती है, यह भाव है, अतः गोपियों में नित्यकाम है।

और भगवान में यदि अनित्य काम हो तो परस्पर गोपियों में तथा भगवान में विलक्षणता हो जाये, विलक्षणता होने पर शोभा नहीं हो।

भगवान पूर्णकाम हैं, किन्तु गोपियां पूर्णकाम नहीं हैं, भगवान् की तरह यदि भक्त पूर्ण-काम हों तो फिर भक्तों को भगवान की अपेक्षा नहीं हो, इसी बात को आचार्यचरण ने 'आनन्दादयः प्रधानस्य' ३-३-११ इस व्यास सूत्र में निरूपण किया है, गोपियों में अपरिच्छिन्न नित्यकाम है, और भगवान् पूर्णकाम ही हैं, इसलिये यहां काम काल-परिच्छिन्न अनित्य है, इसकी सम्भावना भी नहीं कर सकते हैं।

भगवान तथा गोपियां दोनों में काम अपरिच्छिन्न-नित्य है, इसलिये भगवान् गोपियों से वृत-व्याप्त घिरे हुए अकेले स्वाभाविक स्वरूप की अपेक्षा से अधिक शोभित हुए हैं।

अब मूल श्लोक में 'हे तात' यह सम्बोधन है, इसका आशय इस प्रकार है कि जिस प्रकार पिता पुत्र को अपने अर्थ के लिये पोषण करता है, उसी प्रकार श्रोता वक्ता के कहे अर्थ में विश्वास करके वक्ता का पोषण करता है, इसीसे आगे अति गुप्त अर्थ के कथन से वक्ता श्रोता को सुख देता है, नहीं तो अनधिकारी जानकर अतिगुप्त अलौकिक अर्थ भगवान की रसलीला नहीं कहे, प्रकृत विषय में तो शुकदेवजी अतिगुप्त भगवान की लीला में राजा परीक्षित का विश्वास

देखकर अत्यन्त सन्तोष से तथा स्नेह से पिता की तरह 'हे तात' हे पुत्र ! इस प्रकार सम्बोधन करते हैं।

यदि शंका करो कि इस प्रकार कहने से तो गोपियों के साथ से भगवान की शोभा स्वाभाविक शोभा से भी अधिक हो गई, तो फिर भगवान की शोभा में तारतम्य-घटाबढ़ी होने से स्वाभाविकता नहीं रहेगी, विकृति हो जायेगी।

तब इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि (पुरुषः शक्तिभिर्यथा) जिस प्रकार प्राकृत पुरुष की सब सामर्थ्य-शक्तियां जिस समय लीन हो जाती हैं—अर्थात् तिरोहित हो जाती हैं, उस समय लोकप्रतीति से शोभित-सा नहीं होता है, किन्तु जिस समय वह क्रिया ज्ञान आदि शक्तियों को प्रकट करता है, उस समय अधिक शोभित होता है, उसी प्रकार यह भगवान भी शोभायमान ही है, किन्तु जिस समय गोपीरूप शक्तियां प्रकट होती हैं, उस समय सबकी प्रतीति से भावुकों के अन्तःकरण में अधिक शोभित होता है, कारण कि शोभा अन्यदर्शन सापेक्ष है, अर्थात् यद्यपि शोभा को दूसरा देखता है, तब उसका ज्ञान होता है, तथापि यहां परस्पर अपने-अपने सहित दर्शन है, तथा उक्त भाव की भावना करनेवाले भक्तों को शोभा का दर्शन होता है, इस-लिये गोपियों के साथ भगवान अतिसौन्दर्य को प्राप्त हुए, इसीसे भगवान है, वही परमानन्द युक्त है, 'एष ह्येवानन्दयाति' यह ही भगवान आनन्द देता है, इस प्रकार श्रुति भी कहती है ॥१०॥

(सुबो०) तासामानन्दजननार्थं यत् कृतवाँस्तदाह ताः समादायेति ।

अब गोपियों को आनन्द उत्पन्न करने के लिये भगवान ने जो व्यापकता प्रकट की है, उसका वर्णन शुकदेवजी आगे श्लोक में करते हैं।

ताः समादाय कालिन्द्या निर्विश्य पुलिनं विभुः ।
विकसत्कुन्दमन्दारसुरभ्यनिलषट्पदम् ॥ ११ ॥

पदपदार्थ—(ताः) गोपियों को (समादाय) साथ लेकर भगवान (विकसत्कुन्द-मन्दारसुरभ्यनिलषट्पदम्) खिले हुए कुन्द तथा मन्दार-देववृक्ष के पुष्पों के सम्बन्ध से सुगन्धि युक्त वायु तथा भ्रमरयुक्त (कालिन्द्याः) कालिन्दीजी के (पुलिनं) पुलिन में (निर्विश्य) बैठकर (विभुः) व्यापक हो गया ॥ ११ ॥

भाषार्थ—भगवान गोपियों को साथ लेकर खिले हुए कुन्द तथा मन्दार-देववृक्ष के पुष्पों के सम्बन्ध से सुगन्धियुक्त वायु तथा भ्रमरयुक्त कालिन्दीजी के पुलिन में बैठकर व्यापक हो गया ॥ ११ ॥

(सुबो०) ताः सम्यक् आदाय समीचीने पुलिने निर्विश्योपविश्य विभुर्व्याप्तः । कालिन्दी कलिन्द-(कलिं द्यतीति कलिन्दः)कन्या अतस्तस्याः पुलिने तासामन्योन्यं भगवता वा कलहो न भविष्यतीति ज्ञापितम् । पुलिनं वर्णयति क्रीडायोग्यत्वार्थं सार्धेन । सर्वत उपरि अधश्चेति । प्रथमतः सर्वतः सौभाग्यमाह । विकसन्ति कुन्दमन्दारपुष्पाणि तेषां सुरभ्यनिलः षट्पदा भ्रमराश्च यत्र । वायोस्त्रयो गुणाः स्पष्टाः । मकरन्दोपि पुष्पेष्वधिकः । तेन मत्ता भ्रमरा अपि तादृक्साधकत्वेन गानादावुपयुज्यन्ते । विकासो वाग्व्यर्थ एव । कुन्दगन्धः शान्तः ।

मन्दारगन्धः पुष्टः । तेन गुप्तागुप्तकामयोरुद्बोधको निरूपितः । (शत्रन्तोक्त्या प्रभु-निवेशनसमये एव विकासारम्भो, न तु पूर्वमपीति ज्ञाप्यते । अन्यथा विकसितेति वदेत् । एवं सति यस्मिन्क्षणे यस्यार्थस्योपयोगः, तस्मिन्नेव क्षणे तत्कार्यं भवति, नान्यदेति लीलामात्रोपयोग्येवात्रत्यं सर्वमपि इति ज्ञापितं भवति । अन्यथा सार्धाध्यायत्रयोक्तलीलायां क्रियमाणायां भूयस्येव रात्रिरतीतेत्यधुनैव विकासे हेत्वन्तराभावात् स न भवेत्, अत एव न वदेदपि । एवं सत्येतादृक्कुन्दादि सम्बन्धित्वेनोक्तत्वादनिलादयोऽप्यधुनैव प्रवृत्ताः न पूर्वमपीति ज्ञेयम् ।) स्वतन्त्र-तयापि सौरभ्यप्रतीत्यर्थं सुरभिरनिल उक्तः । एवं परितो जलं, परितः सुगन्धः, परितः पुष्पाणि, परितो वायुः, परितो नाद इति निरूपितम् ॥ ११ ॥

भगवान् गोपियों को सुन्दर प्रकार से साथ लेकर सुन्दर पुलिन में बैठकर विभु-व्यापक हो गया। अर्थात् सब गोपियों के समीप में स्थित हो गया, इस ११ वें श्लोक में क्रिया निरूपण नहीं की, इसलिये क्रियान्तर का अध्याहार करने की अपेक्षा से स्वरूपधर्म विभुत्व के प्राकट्य का कथन ही श्रेष्ठ है, इसलिये मूलसुबोधिनी में 'विभुर्जातः' इस प्रकार कहा है।

कालिन्दी, कलिन्द पर्वत की कन्या, कलि-कलह को, द्यति-खंडन करता है, उसका नाम कलिन्द है।

अतः कालिन्दी के पुलिन में गोपियों के लिये परस्पर मद, तथा मान से कलह नहीं हो, और उसी प्रकार भगवान् के साथ भी आगे कलह नहीं हो, इस प्रकार का भाव यहां कालिन्दी-पद से सूचित किया है, कारण कि गोपियों के मध्य में सब से अधिक ज्ञान रूप मद से ही परस्पर सापत्न्य-भाव होने से कलह होता है, यह भाव है।

इस समय श्रीयमुनाजी के पुलिन में कलह का खण्डन करने वाला धर्म प्रकट हुआ है, इसलिये जिस पुलिन में पहले लीला हुई थी, उस पुलिन से इस समय भगवान् गोपियों के साथ जिस पुलिन में विराजमान हुए हैं यह पुलिन विशिष्ट है।

पहले पुलिन में तो गोपियों को मद मान हुआ था, उस पुलिन में कलह खंडन करने वाला धर्म प्रकट नहीं हुआ था, इस बात को सूचन करने के लिये 'नद्याः पुलिनमाविश्य' इस छब्बीसवें अध्याय के ४५ वें श्लोक में 'कालिन्दी' पद नहीं कहा है, किन्तु नदी पद कहा है।

अब इस समय श्रीयमुनाजी का पुलिन क्रीडा करने के योग्य है, इसका वर्णन श्रीशुकदेवजी बाधा ११ वें का और पूरा श्लोक बारहवें का इस प्रकार डेढ़ श्लोक से करते हैं।

श्रीयमुनाजी का पुलिन सब ओर से ऊपर तथा नीचे का भाग क्रीडायोग्य है, पहले चारों ओर के सौभाग्य का वर्णन करते हैं।

खिले हुए कुन्द तथा मन्दार-देववृक्ष के पुष्प हैं, इन वृक्षों के पुष्पों से सुगन्धयुक्त वायु तथा भ्रमर जिस इस प्रकार का श्रीयमुनाजी का तट है, इसमें वायु के शीतल, मन्द, सुगन्ध, इस प्रकार तीन गुणों का वर्णन स्पष्ट है, मकरन्द भी पुष्पों में अधिक है, उस मकरन्द के सम्बन्ध से भ्रमर भी मत्त हैं।

यदि कहो कि यहां 'मन्दारैः सुरभिः' इस प्रकार तृतीयासमास करने पर भ्रमरों में

पुष्प सम्बन्ध का अभाव होगा, तो फिर भ्रमरों में मद कैसे कह सकते हो, और यदि कहो कि भ्रमरों में मत्तता कहने का ही क्या प्रयोजन है, अर्थात् मत्तता न कही जाये तो क्या हानि है ?

उक्त शंका का उत्तर देते हैं कि भ्रमरों में मद कहने का प्रयोजन यह है कि भ्रमर भी स्वयं नाद करते हैं इसलिये नाद साधन करने वाले भ्रमरों का गान आदि में उपयोग होता है।

पुष्पों का विकास वायु के लिये ही है, अर्थात् वायु में अपना गंध संपादन करने के लिये ही है, पहले की तरह पुष्प चुनने से स्वामिनी की वेणी आदि में पुष्प स्थापन करने के लिये नहीं है, इस प्रकार का भाव सुबोधिनी में 'वाय्वर्थ एव' इसमें एवकार से सूचन किया है।

कुन्द पुष्प की गन्ध शान्त है, और मन्दार पुष्प की गन्ध पुष्ट है, इस प्रकार कहने से वायु गुप्त तथा अगुप्त प्रकट काम का उद्बोधन करने वाला निरूपण किया है।

मूल श्लोक में 'विकसत्' यह पद शतृ प्रत्ययान्त कहा है, इसलिये वर्तमान अर्थ के प्रत्यय से ज्ञापित होता है कि जिस समय भगवान् गोपियों के साथ श्रीयमुना पुलिन में विराजमान हुए हैं, उसी समय पुष्पों का खिलना आरम्भ हुआ है, पहिले से नहीं हुआ है।

यदि पुष्पों का विकास पहले से होता तो शुकदेवजी यहां 'विकसत्' के स्थानपर 'विकसित' इस प्रकार भूतकाल का प्रयोग करते।

इस प्रकार जिन क्षण में जिस पदार्थ का उपयोग होता है, उसी क्षण में वह कार्य होता है, अन्य समय में नहीं, अतः यहां की सब वस्तु लीला मात्र के उपयोगी है, इस प्रकार ज्ञापन किया है।

यदि उक्त बात नहीं मानते तो साढ़े तीन अध्याय में कही गई लीला करने में बहुत-सी रात्रियां व्यतीत हो गई, अतः इस समय ही पुष्पों के विकास में कोई दूसरा कारण न होने से पुष्पों का विकास नहीं होता, और शुकदेवजी भी इसका वर्णन नहीं करते, अतः इस प्रकार विकसित कुन्द पुष्प आदि के सम्बन्धी वायु आदि भी इसी समय ही प्रवृत्त हुए हैं। पहिले नहीं हुए। इस प्रकार जानना चाहिये।

स्वतन्त्रता से भी सुगन्ध की प्रतीति वायु में हो रही है, इसलिये मूल में 'सुरभि अनिल पद कहा है।

इस प्रकार से श्री यमुनाजी के पुलिन में चारों तरफ जल, चारों तरफ सुगन्ध, चारों तरफ पुष्प, चारों तरफ वायु और चारों तरफ नाद हैं, इस प्रकार निरूपण किया है ॥ ११ ॥

(सुबो०) उपर्युत्तमतामाह । शरदिति ।

अब श्री यमुना पुलिन के ऊपर की उत्तमता का वर्णन शुकदेवजी करते हैं।

शरच्चन्द्रांशुसन्दोहध्वस्तदोषातमःशिवम् ।
कृष्णाया हस्ततरलाचितकोमलवालुकम् ॥ १२ ॥

पदपदार्थ—(शरच्चन्द्रांशुसन्दोहध्वस्तदोषातमः शिवम्) शरदृऋतु का चन्द्रकिरणों के समूह से दूर हुआ रात्रि का अन्धकार जिस यमुना पुलिन में, इससे श्री यमुना पुलिन की अत्यन्त कल्याणरूप कहा है, तथा (कृष्णाया हस्तरलाचितकोमल वालुकम्) श्री यमुना जी की हस्तरूप तरङ्गों से एकसी बिछाई कोमल बालु जिस पुलिन में हैं ॥ १२ ॥

भाषार्थ—शरद् ऋतु की चन्द्रकिरणों के समूह से दूर हुआ रात्रि का अन्धकार जिस यमुना पुलिन में, इससे अत्यन्त कल्याणरूप हैं, और श्री यमुनाजी की हस्तरूप तरङ्गों से एक सी बिछाई कोमल बालु पुलिन में है ॥ १२ ॥

(सुबो०) शरत्कालीना ये चन्द्रांशवः, तेषां ये सन्दोहाः समूहाः, तैर्ध्वस्तं दोषाया रात्र्यास्तमो यत्र । तेन अत्यन्तं शिवं कल्याणरूपम् । अन्धकारे गतेपि यदि भूताद्यभिनिविष्टं भवेत्, तथापि पदाग्रसमञ्जसमिति कल्याणरूपता निरूपिता । निर्विघ्नमग्रिमेष्टकार्यसम्पादकत्वज्ञापनाय च । परितश्च निकृष्टाः पदार्थाः नोपर्यधश्च । अधस्तस्य पुलिनस्य गुणानाह कृष्णेति । सापि भगवत्स-नाम्नी भूसंस्कारं कृतवती भगवद्रमणार्थम् । कृष्णाया हस्तरूपास्तरलास्तरङ्गाः तैः आचिताः कोमलावालुका यत्र । अन्यया हस्तरूपताभावे समता न स्यात् । तेन शैत्यं कोमलत्वं समता चोक्ता । तादृशं पुलिनं निर्विश्य तत्र गत्वा वा स्थितः । उपवेशनमग्रे वक्ष्यति । भावेनैवोपवेशनम् ॥ १२ ॥

शरत् कालीन जो चन्द्रकिरण, उन किरणों का जो सन्दोह-समूह उससे दूर किया गया रात्रि का अंधकार जिस पुलिन में, इससे अत्यन्त कल्याणरूप श्री यमुना जी का पुलिन है।

अन्धकार निवृत्त होने पर भी यदि पुलिन में भूत आदिका निवेश हो, अर्थात् भूतादि रहते हों, तो भी पुलिन ठीक नहीं, इसलिये यहां कल्याणरूपता निरूपण की है, तथा आगेका इष्ट-कार्य निर्विघ्न संपादन हो जाये, इस बात को ज्ञापन करने के लिये भी पुलिन की कल्याणरूपता निरूपण की है, श्री यमुना जी के पुलिन में चारों तरफ तथा ऊपर नीचे कोई निकृष्ट पदार्थ नहीं है, सर्वत्र ही उत्कृष्ट-उत्तम पदार्थ है।

अब श्री शुकदेव जी श्री यमुना जी के नीचे पुलिन के गुण कहते हैं (कृष्णेति) श्री यमुना जी का नाम कृष्णा भी है, अतः भगवान् का नाम धारण करने वाली श्रीयमुनाजी ने भगवान् के रमण करने के लिये भूमिका संस्कार किया है, कृष्णा-श्री यमुना जी की हस्तरूप तरङ्ग हैं, उन तरङ्गों से एकसी बिछाई कोमल बालु जिस पुलिन में है।

यदि श्री यमुना जी के तरङ्ग रूप हस्त नहीं हों तो श्री यमुनापुलिन की रेती में समता नहीं होती।

उक्त प्रकार वर्णन से श्री यमुना पुलिन में शीतलता, कोमलता, तथा समता कही गई है, भगवान् इस प्रकार के पुलिन में बैठकर व्यापक हुआ, अर्थात् प्रत्येक गोपी के समीप में स्थित हुआ। अथवा पुलिन में जाकर स्थित हुआ, भगवान् के बैठने की बात शुकदेव जी आगे चौदहवें श्लोक में कहेंगे, कारण कि जिस समय गोपियां भाव से आसन बिछाती हैं, उस समय भगवान् बैठता है। इस लिये आसन बिछाने की बात आगे १३ वें श्लोक में कहेंगे ॥ १२ ॥

(सुबो०) ततो गोपिकानां कृत्यमाह तद्दर्शनाह्लादेति ।

अब इसके अनन्तर शुकदेवजी मनोरथान्त प्राप्त होने से आसन बिछाने रूप कार्य गोपियों का कहते हैं।

तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः ।
स्वैरुत्तरीयैः कुचकुङ्कुमाङ्कितैरचीक्लृपन्नासनमात्मबन्धवे ॥१३॥

पदपदार्थ—(तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजः) भगवान् के दर्शन से प्राप्त हुआ जो आनन्द उस आनन्द से दूर हुआ हृदय का रोग जिसका इस प्रकार की गोपियां (यथा) जिस प्रकार से (श्रुतयः) श्रुतियां (मनोरथान्तं) मनोरथ का भी अन्त-भगवान् का आनन्द उसको (ययुः) प्राप्त हुईं, उस प्रकार से गोपियां भी भगवान् के आनन्द को प्राप्त हो गईं, (आत्मबन्धवे) अपने बन्धु भगवान् के लिये (कुचकुंकुमाङ्कितैः) स्तनों की कुंकुम से अङ्कित (स्वैरुत्तरीयैः) अपने उत्तरीय वस्त्रों से (आसनम्) आसन को (अचीक्लृपन्) रचती हुईं, बिछायीं ।। १३ ।।

भाषार्थ—इस प्रकार के भगवान् के दर्शन से जो आनन्द प्राप्त हुआ उससे गोपियों के हृदय का दुःख दूर हो गया, और जिस प्रकार श्रुतियां भगवद्गुण गान धर्म से वाणी तथा मनके अगोचर प्रभुका दर्शन करके मनोरथ का भी अन्त-भगवान् के आनन्द को प्राप्त हुई थीं उसी प्रकार गोपियां भी भगवान् के आनन्द को प्राप्त हो गईं, और इनमें अपने बन्धु प्रभु के लिये स्तनों के कुङ्कुम से अङ्कित अपने वस्त्रों से आसन बिछाया ।। १३ ।।

(सुबो०) शोके गतेपि कामस्तापात्मको वर्तत एव, सम्बन्धस्याजातत्वात् । यदा पुनस्तादृशस्थाने तदर्थं गतः, तदा तद्दर्शनेन तस्य तदवस्थामापन्नस्य दर्शनेन योऽयमाह्लादः भाव्यर्थनिश्चयात् तेन विधूताः हृद्रुजो यासाम् । एवं निवृत्ते दोषे तासां यज्जातं तदाह मनोरथान्तं ययुरिति । ताभिर्यथाकथञ्चित् सम्बन्धोऽभिलषितः । जातस्तु ततोऽनन्तगुणसामग्रीसहितः । अतो मनोरथस्याप्यन्तो यत्र तादृशं ययुः । नन्वनभिलषितं कथं प्राप्नुयुः, तत्राह श्रुतयो यथेति । श्रुतयो हि निरन्तरं भगवद्गुणवर्णनपराः । तेन धर्मेण, वाचः पूर्वरूपं यन्मनः तस्यापि यदगम्यं भगवत्स्वरूपं, तत् प्राप्तवत्यः । 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सहे'ति भगवदानन्दो मनोरथान्तो भवति । तत्प्रतिपादिकाः श्रुतयो जाताः । सर्वे च मन्यन्ते । 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि', 'अतोस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः' इति, 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इत्यादिवाक्यैः बह्वृणि श्रुतयः प्रमाणमित्यध्यवसीयते । 'सर्ववेदान्तप्रत्यय'मिति न्यायाच्च । अलौकिको वेदार्थः । अलौकिका वेदशब्दाः । लोके च न सङ्केतः । तथापि निरन्तरं भगवत्कार्यं कथयन्तीति लोकाः तच्छ्रवणेन शुद्धान्तःकरणाः स्वयमेवालौकिकविषये सामर्थ्यं मन्यन्ते । श्रुतिश्च तत्प्रतिपादिका भगवदिच्छया । नात्र लौकिकं साधनमपेक्षते, युक्तिं वा । तथा एतासामपि मनोरथान्तप्राप्तिः । एवं परमपुरुषार्थदातुर्भगवतोऽन्यत्राभिनिवेशे आधारधर्मसम्बन्धात् स्वस्य कृतार्थता न भविष्यतीति पूजार्थमात्मनिवेदनार्थं च आसनं चक्रुरित्याह स्वैरुत्तरीयैरिति । तद्देश-

स्थानां चीवराणि त्रीणि भवन्ति । परिधानीयं, कुचपट्टिका, उपरिवस्त्रं च । सर्वाभिरेव स्वोपरिवस्त्राणि आसनार्थं दत्तानि । उपरिवस्त्राण्यपि द्विविधानि भवन्ति । सर्वदा परिधेयानि, भोगसमये च । तानि सूक्ष्माणि भवन्ति । तान्येव भगवते दत्तानीति ज्ञापयितुमाह कुचकुङ्कुमाङ्कितैरिति । शुष्काण्यपि कुङ्कुमानि क्रीडायामार्द्राणि भवन्ति । अतस्तेनाङ्कितानि उत्तरीयाणि, अचीक्लृपन् कल्पयामासुः । ननु स्वोपरि परिधेयं कथमधः कल्पयाञ्चक्रुरित्याशङ्क्याह आत्मबन्धव इति । आत्मनः स एव बन्धुः, रक्षित आत्मा, तदर्थमेव देहः स्वात्मा च अत उपर्याच्छादनमपि तदर्थमिति तस्यासनकल्पनिरुचिता ॥ १३ ॥

'ताभिर्विधूतशोकाभिः' इस दसवें श्लोक में कह आये हैं और १३ वें श्लोक में 'विधूत हृद्रुजः' इस प्रकार कहा है, इसलिये यहां पुनरुक्ति दोष होता है ।

इस शंका का निवारण करते हुए श्री महाप्रभुजी कहते हैं कि गोपियों का शोक तो चला गया था, किन्तु कामतापात्मक गोपियों में स्थित था, कारण कि अभीतक गोपियों का भगवान् के साथ सम्बन्ध नहीं हुआ है, इसलिये इस श्लोक में मनोरथ का भी अन्त जिसमें इस प्रकार के आनन्द को गोपियां प्राप्त हुई हैं, अतः पुनरुक्ति दोष नहीं है । जिस समय भगवान् प्रकट होकर गोपियों के साथ श्रीयमुना पुलिन में पधारे, उस समय उक्त प्रकार की अवस्था को प्राप्त हुए भगवान् का दर्शन करके आगे भगवान् के साथ हमारा संबंध होगा इस प्रकार गोपियों को निश्चय होने पर जो आनन्द प्राप्त हुआ, उस आनन्द से गोपियों के हृदय का रोग नष्ट हो गया, अर्थात् गोपियों का तापात्मक काम नष्ट हो गया ।

अब इस प्रकार दोष निवृत्त होने पर गोपियों को जो कुछ हुआ उसका वर्णन शुकदेव जी करते हैं (मनोरथान्तं ययुः) गोपियां यह चाहती थीं कि किसी भी प्रकार भगवान् का संबंध हो जाये, इस प्रकार गोपियों में भगवत्संबंध होने की इच्छा थी, इस समय तो गोपियों का भगवान् से सम्बन्ध अनन्तगुण सामग्री सहित हुआ है, इसलिये मनोरथ का भी अन्त जिसमें उस प्रकार के वाणी तथा मनके अगोचर भगवान् के आनन्द को गोपियां प्राप्त हुईं ।

यदि शंका करो कि गोपियों को तो किसी भी प्रकार से भगवान् के संबंध की इच्छा थी, इस प्रकार के अनन्तगुण सामग्री सहित भगवदानन्द की इच्छा नहीं थी, बिना इच्छा फिर इस प्रकार का आनन्द गोपियों को कैसे प्राप्त हुआ ? और श्रुतियों की वाणी तथा मनके अगोचर की प्राप्ति प्रसिद्ध नहीं है, फिर दृष्टान्त की सङ्गति कैसे होगी ।

इस प्रकार की शंका के उत्तर में शुकदेवजी श्रुतियों की सङ्गति को भी कहते हैं, (श्रुतयो यथा) श्रुतियां निरन्तर भगवद्गुणगान करती हैं, इस प्रकार भगवद्गुण वर्णन रूप धर्म से वाणी का पूर्व रूप जो मन है, उस मन से भी जो अगम्य भगवत्स्वरूप है, उसको श्रुतियों ने जान लिया है ।

इस प्रकार श्रुतियों की प्राप्ति की प्रतिज्ञा करके अब इसमें प्रमाण कहते हैं, 'यतो वाचो निवर्तन्ते' 'अप्राप्य मनसा सह' जिस भगवान् को मनसहित वाणी प्राप्त किये बिना पीछे लौटती है ।

भगवान् का आनन्द मनोरथ का अन्त करनेवाला होता है, उसका प्रतिपादन श्रुतियां करती हैं ।

यदि शंका करो कि प्रतिपादन मात्र से प्राप्ति का निश्चय कैसे हो सकता है । तब इस

शंका के उत्तर में श्री विट्ठलनाथजी टिप्पणी में प्रतिपादन करते हैं कि यहां पर इस प्रकार भाव है, कि श्रुतियों में दो अंश हैं, (१) भगवान् के स्वरूप का अनुभव करनेवाला।

(२) दूसरा अंश अन्य लोगों को स्वरूप के अनुभव में साधनरूप है, उसमें यदि अपनी शक्ति से ही भगवत्स्वरूप का अनुभव हो जाता हो तो 'यतो वाचो' इस प्रकार उक्त श्रुति नहीं कहती, कारण कि भगवान् के अनुग्रह से भगवान् का आनन्द अनुभवैकवेद्य है।

यदि भगवान् के आनन्द को अनुग्रह द्वारा अनुभवैकवेद्यता नहीं हो तो श्रुतियों को वाणी-रूपता होने से वाणी की निवृत्ति के अनन्तर विद्वत्त्व कथन में वदतोव्याघात—अर्थात् कहकर फिर उसका नाश करना रूप दोष हो जायेगा, कारण कि भगवान् का बोध करनेवाला अन्य प्रमाण नहीं है, इसलिये श्रुतियों को पहले भगवत्स्वरूप का ज्ञान नहीं था, फिर जब श्रुतियों ने निरन्तर भगवद्गुण वर्णन किया, तब भगवान् के अनुग्रह से पश्चात् भगवान् के आनन्द का अनुभव हुआ, इस प्रकार श्रुतार्थापत्ति से मानना चाहिये, इसी बात को आचार्यों ने कहा है कि 'श्रुतयो जाताः' भगवान् का आनन्द श्रुतियों ने प्रतिपादन किया है।

यदि शंका करो कि 'यतो वाचः' इस श्रुति में निषेधमुख से ही भगवान् का प्रतिपादन अभिप्रेत है, विधिमुख से नहीं है, अतः भगवत्प्राप्ति का अवगम कैसे हो सकता है ?

इस शंका के उत्तर में श्रीमहाप्रभु जी सुबोधिनी में कहते हैं कि 'सर्वे च मन्यन्ते' सर्व लोग श्रुतियों से ही भगवान् के स्वरूप को जानते हैं इसको सभी स्वीकार करते हैं।

'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' में उपनिषद में कहा उस पुरुष को पूछता हूँ, 'अतो-स्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः' इसलिये में लोक तथा वेद में प्रसिद्ध पुरुषोत्तम हूं। 'सर्वे वेदा-यत्पदमामनन्ति' इत्यादि वाक्यों से ब्रह्म विषय में श्रुतियां प्रमाण हैं, इस प्रकार निश्चय होता है, 'सर्ववेदान्तप्रत्ययम्' इस न्याय से भी प्रमाण है।

'तं त्वौपनिषदं' इसमें प्रश्न करने वाला उपनिषत् प्रतिपाद्य ब्रह्म चाहता है, इसलिये उपदेश से पहिले ही पूछनेवाले को इतना ज्ञान है कि उपनिषत्प्रतिपाद्य ब्रह्म है, अतः ब्रह्म वेदप्रतिपाद्य है, इस बात को जो लोग जानते हैं, वे सत्य ही कहते हैं, उक्त गीतावाक्य से भी वेदप्रतिपाद्यत्व ही कहा है, 'सर्वे वेदाः' इसमें सर्ववेद पदरूप को प्राप्त होते हैं, इसलिये पदप्राप्य जो ब्रह्म है, उसको (आमनन्ति) अभ्यास करते हैं, इस प्रकार के अर्थ से वेद प्रतिपाद्य ही कहा है, अतः वेदों से ब्रह्म प्रतिपादित है।

श्रुतियों को मनोरथान्त प्राप्ति हुई है, और वह प्राप्ति भगवान् के अनुग्रह से ही हुई है, नहीं तो 'यतो वाचः' इस श्रुति से मनवाणी से अप्राप्य ब्रह्म का श्रुतियां प्रतिपादन कैसे करतीं, इसलिये मनोरथ की जहां गति नहीं है, इस प्रकार के ब्रह्म का श्रुतियां जो निरूपण कर रही हैं, यह सब भगवान् के अनुग्रहविशेष से साध्य हुआ है, उसी प्रकार व्रजसुन्दरियों को मनोरथान्त की प्राप्ति भगवान् के अनुग्रह से ही साध्य हुई है।

इसमें भौतिकी शब्दात्मिका श्रुतियां दृष्टान्तरूप हैं, और आधिदैविकी व्रजसुन्दरी नाम की श्रुतियां दार्ष्टान्तिक हैं, इसलिये दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिकभाव श्रुतियों को ही है, कारण कि व्रजवधूटियों को भी श्रुतिरूपता है, 'न स्त्रियो व्रजसुन्दर्यः पुत्र ताः श्रुतयः किल।' व्रजसुन्दरी साधारण स्त्री नहीं हैं, किन्तु हे पुत्र ये श्रुतियां हैं। यह वाक्य भृगु के प्रति ब्रह्माजी ने बृहद्ब्रह्मन पुराण के उत्तर खिल्य में कहा है।

इसी प्रकार 'गोप्यो गावस्तृणस्तस्य' इस वाक्य से कृष्णोपनिषत् में गोपियां श्रुति बतलाई गई हैं, अतः कहे हुए श्रुति स्मृति आदि वाक्यों से विधिमुख प्रतिपादन सभी ने अङ्गीकार किया है।

इसी बात को टिप्पणी में कहा है, उक्त श्रुतियों से अन्य लोगों को भगवान् का ज्ञान होता है, इस प्रकार निश्चय किया है।

श्रुतियां वाणी रूप हैं, इसलिये 'यतो वाचः' इत्यादि श्रुतियों से भगवान् का ज्ञान होना संभावित नहीं है, इस प्रकार श्रुतियों से ज्ञान होना, तथा नहीं होना दोनों बात कही हैं, अतः श्रुतियों में परस्पर विरोध होता है, इस विरोध परिहार के लिये श्रुति में कहा भगवद्धर्म—सर्व-भाव से भगवान् का भजन करना है, 'यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्। स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत' यह गीता वाक्य है।

इस प्रकार इस भगवद्धर्म के श्रवण करने से, अनन्तर उसी प्रकार की कृति करने से भगवान् का अनुग्रह होता है, अनुग्रह होने पर भक्ति उत्पन्न हो जाती है, भक्ति के अनन्तर स्वयं ही भगवान् का आनन्द अनुभव करने की योग्यता प्राप्त हो जाती है, इसलिये सुबोधिनी में 'सर्वे च-मन्यन्ते' से लेकर 'युक्ति वा' यहां तक कहा है।

इस प्रकार प्रकृत विषय—गोपियों के प्रसङ्ग में श्रुतियों में दो अंशबोधन करने के लिये 'श्रुतयो यथा' यह दृष्टान्त दिया है।

इस प्रकार साढ़े तीन अध्याय से कहे हुए स्नेह से गोपियां प्रभु को अपने वश में करके मनोरथान्त को प्राप्त हुई हैं, अन्य लोग भी जिन्होंने बहुत से पुण्य किये हैं, वे सब गोपियों के वाक्यों का श्रवण कीर्तन आदि करके तथा गोपियों के भावानुसार भजन-सेवा करके भगवान् के आनन्द को प्राप्त होंगे उक्त कहने से यह भी कह दिया है।

यदि शंका करो कि भगवान् सर्वथा वाणी के विषय नहीं हैं, तो फिर श्रुतियां निरन्तर भगवत्कार्य को कहती हैं, इस प्रकार का कथन भी संभव नहीं होता है।

तब इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि इसी प्रकार से ही कार्य की उक्ति द्वारा भगवद्रूप में वाणी विषय की प्राप्ति होती है।

और यदि यह कहो कि पहले यह कहा है कि भगवदानन्द प्राप्ति के लिये ही श्रुतियों ने भगवान् के गुणों का वर्णन किया है, यदि इस प्रकार से भगवद्रूप की वाणी मन से सर्वथा अगोचरता है तो श्रुतियों ने जो गुणवर्णन किया है वह भी बाधित होता है, और जब गुण वर्णन बाधित होता है तो दृष्टान्त में मनोरथान्त प्राप्ति का वर्णन भी बाधित होता है, इसलिये निषेध-मुख से ही वाणी का विषय है, विधिमुख से नहीं है, इस प्रकार 'यतो वाचः' इत्यादि श्रुति का तात्पर्य है, किन्तु पहिले सर्वथा वाणी का अविषय, पीछे इच्छा से वाणी के विषय में तात्पर्य नहीं है, प्राप्तिमात्र में दृष्टान्त है, अतः इस प्रकार की व्याख्या करके विराम करना चाहिये, और मनोरथान्त प्राप्ति की जैसे-तैसे कल्पना करके उसमें दृष्टान्त से अन्यत्र यत्न नहीं करना चाहिये।

इस शंका के उत्तर में सुबोधिनी में कहा है, कि 'श्रुतिश्च तत्प्रतिपादिका' प्रतिपादन-भगवद्बोधक वाक्यों का कथन, वाक्यार्थ बोध अभिधा शक्तिग्रह के बिना नहीं होता है, और लोक में भगवद्वाचक शब्द प्रसिद्ध नहीं हैं, इसलिये शक्तिग्रह का भी होना संभव नहीं होता है, अतः वेदवाक्यों के अर्थ का बोध भगवान् की इच्छा से ही होता है, इसी से भगवान् ने कहा है कि 'अतोस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः'।

यदि कहो कि भगवान् इस प्रकार की इच्छा क्यों करते हैं इसके उत्तर में कहते हैं।

यदि भगवान् अपनी इच्छा से भी बोध न करायें तो फिर मुक्ति का उच्छेद हो जाये, अर्थात् 'मोक्षमिच्छेज्जनार्दनात्' इस वाक्य से जनार्दन भगवान् ही मोक्षदान करते हैं, वह मोक्ष 'तमेवं विद्वान्' इत्यादि श्रुति के अनुसार ज्ञानद्वारा होती है।

यदि भगवान् की इच्छा नहीं हो तो साधनान्तर के अभाव से ज्ञान का भी अभाव होगा, तो फिर मुक्ति का उच्छेद ही हो जायेगा, फिर किसी का भी मोक्ष नहीं होगा, अतः मुक्ति का उच्छेद न हो, इसलिये भगवान् अपनी इच्छा से वेदवाक्यों के अर्थ का बोध कराते हैं।

जिस प्रकार वीणा बजाने वाले की इच्छा आदि से उस उस अर्थ वाले शब्दों का आविर्भाव वीणा से होता है, उसी प्रकार भगवदिच्छानुसार से श्रुति निरूपण करती हैं।

जिस प्रकार वीणा बजाने वाला अपने इच्छानुसार शब्द का आविर्भाव करता है, उस समय वीणा के ऊपर संतुष्ट हुआ बजानेवाला, उस वीणा की अनेक प्रकार से रक्षा करता है, उसी प्रकार भगवान् ने श्रुतियों के लिये अपना रूप प्रकट करके आनन्द दिया है, यह अर्थ है। और पूर्वपक्ष में जो कहा कि सर्वथा वाणी का अविषय है तो निरन्तर श्रुति भगवत्कार्य का वर्णन करती है, इस प्रकार की बात संभव नहीं होती है।

इसका भी उत्तर कहते हैं कि जीवों को सर्वपुरुषार्थ की सिद्धि के लिये भगवान् ने वेद प्रकट किये हैं, उसमें जिस रूप साधनात्मक से जो पुरुषार्थ जिस प्रकार के अधिकारी को सिद्ध होता है, वह रूप उस पुरुषार्थ को तथा उस अधिकारी को मोक्षपर्यन्त श्रुति निरूपण करती है, इस प्रकार करने से संतुष्ट हुए भगवान् श्रुतियों के लिये अपना स्वरूप प्रकट करके आनन्द दान करते हुए।

श्रुतियों ने भगवान् का वह रूप और वह आनन्द पहले नहीं जाना था, कारण कि अभी तक भगवान् मनवाणी का अविषय था, इस प्रकार की भी फलात्मक वस्तु है, इस बात को ज्ञापन करने के लिये कहा है कि 'यतो वाचो' 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' इस श्रुति में पूर्वार्ध आनन्द का विशेषण है, अर्थात् ब्रह्मानंद को प्राप्त न होकर मन सहित वाणी निवृत्त हो जाती है। फलरूप वस्तु के अनुभव से पहले 'रसो वै सः' 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' इत्यादि श्रुतियों से जो भगवान् का स्वरूप निरूपण किया है, वह सर्वात्मभाव से लभ्य-प्राप्य है, अन्य प्रकार से नहीं है, इस बात को ज्ञापन करने के लिये सर्वात्मभाव का निर्वचन करना अशक्य है, इसलिये उसका प्रकट करने वाला धर्म उत्तरार्ध से कहते हैं कि एतादृश आनन्द को जो विद्वान्, अथवा एतादृश आनन्द को जो जानता हुआ, वह किसी से भी लोकवेद से भी अधिक क्या कहा जाये परीक्षा के लिये साक्षात् भगवान् के कहे वाक्यों का भी उल्लङ्घन करके मान आदि की दशा में भगवान के अपराध से भी नहीं डरता है।

मोक्ष का साधन अपनी कृति से साध्य होने से, उसमें 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' इत्यादि श्रवण आदि साधन कहे हैं, और यहां पुष्टिमार्ग में तो भगवान् के अनुग्रह से लभ्यता है, इसलिये अपनी कृति से साध्यता न होने से श्रवण आदि साधनों का अनुवाद ही किया है, अतः मूल में मनोरथान्त प्राप्ति पर्यन्त दृष्टान्त है, केवल प्राप्तिमात्र में नहीं है, इस प्रकार टिप्पणी में कहा है।

यही सब बात मूल सुबोधिनी में श्रीमहाप्रभुजी ने कही है कि 'यतो वाचः' इस उक्त श्रुति के अनुसार भगवान वाणी से गम्य नहीं होने चाहिये। तब इस शंका के उत्तर में श्रीमहाप्रभु जी कहते हैं कि 'अलौकिको वेदार्थः'।

वेद प्रतिपादित यज्ञ, और उसके अङ्गभूत पशु आदि सब भगवान् के अवयव भूत हैं, यदि इस प्रकार नहीं मानते हैं, और लोकसिद्ध अनुवाद मानते हैं तो अनधिगत अर्थ का ज्ञान नहीं होगा, और ज्ञान के अभाव होने से प्रामाण्यता नहीं होगी 'शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्' इस व्यास सूत्र में वैदिक सृष्टि की भिन्नता प्रतिपादन की है, तामस अहंकार का कार्य शब्द रूप सृष्टि नहीं है, इसी से नामसृष्टि की व्यवस्था भिन्न ही कही है।

संकेतग्रह का अभाव होने से शब्द से ज्ञान नहीं होता है, किन्तु चित्त की शुद्धि से स्वरूप योग्यता संपादन की जाती है, यद्यपि अन्य प्रमाण की अपेक्षा न करके स्वतः प्रमाणभूत वेद में जैमिनि द्वारा अर्थ की उपलब्धि नहीं होती है, तथापि जैमिनि ने अभिन्नता से विधि अंश का जिस प्रकार अलौकिक धर्म अर्थ स्वीकार किया है, उस प्रकार 'हिरण्यप्रदिवस्ते अर्थम्' इत्यादि द्वारा प्रत्यक्ष मन्त्रवर्णों से यजमान तथा ऋत्विजों को वेद से ही अपने-अपने कार्य का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है तथा 'जमदग्नीनां पश्चावत्तम्' इत्यादि अनुमान से व्यासपाद ने मन्त्रादि अंश का भी अलौकिक पुरुषावयवरूप अर्थ स्वीकार किया है, अतः वेदार्थ अलौकिक है, और वेदशब्द भी स्वर आदि की विशेषता आदि से स्पष्ट ही अलौकिक हैं, अर्थात् वेद में जो अग्नि, वायु, इन्द्र आदि शब्द तथा दध्यादि शब्द हैं, वे सब अलौकिक हैं, लौकिक नहीं हैं, इसीसे 'वेदाक्षराणि यावन्ति पठितानि द्विजातिभिः। तावन्ति हरिनामानि कीर्तितानि न संशयः॥' वेदाक्षर जितने ब्राह्मणों ने पढ़े हैं, उतने सब हरिनाम कीर्तन किये हैं, इसमें संदेह नहीं है, इस प्रकार वेदाक्षरों को हरि-नामता कही है।

जहां पर हरिनाम के कारण अक्षरों को अलौकिकता है, वहां फिर इस प्रकार के अक्षर ब्रह्म से उत्पन्न शब्दों को अलौकिकता हो तो क्या कहना है, 'निःश्वसितमस्य वेदाः' इस श्रुति में वेद को भगवान् का निःश्वास रूप कहा है। और वेद 'इषेत्वोर्जेत्वा वायवस्थोपायवः' इत्यादि शब्द रूप है, इसलिये शब्दों को अलौकिकता ही है, 'वेदो नारायणः साक्षात्' इस वाक्य से भी वेद अलौकिक है, इसलिये वैदिक शब्दों का लोक में संकेत नहीं है, और लौकिक शब्दों के सदृश देखकर लौकिक संकेत बल से अर्थ कल्पना में तो जो वेद की अर्थ कल्पना की जाती है, वह वेदार्थ नहीं है, इसलिये वेदों के संकेत का अभाव होने से अर्थज्ञान दुर्लभ है, अतः श्रीकृष्ण के अनुग्रह से ही एक वेदार्थ लभ्य है, यह भाव है।

यह पद इस अर्थ में शक्त है, यह शब्द इस अर्थ में शक्त है, इसका नाम संकेत है।

यद्यपि वैदिक शब्दों का लोक में संकेत नहीं है, तथापि जैमिनीय के अनुसार से आकृति में, और व्यासचरण के कहे पक्षान्तर के अनुसार से प्रवाह में शब्दसम्बन्ध का निश्चय करके उसके श्रवण में लोक प्रवृत्त होता है, केवल वेदशब्द पूर्वोक्त श्रुति से निरन्तर भगवत्कार्य को कहते हैं, अर्थात् भगवद् यश का गान करते हैं, इसलिये लोक, वेद के केवल श्रवण से शुद्ध अन्तः-करण वाले हो जाते हैं, और जिस प्रकार स्वाभाविकी बुद्धि से हर्यश्वादि ब्रह्मा के पुत्र नारदजी के कहे कूटवाक्यों का अर्थ निश्चय किये, उसी प्रकार शुद्ध अन्तःकरण वाले पुरुष स्वयं ही भगवान् के अनुग्रह से हमारा अलौकिक विषय ज्ञान में सामर्थ्य हो गया, अथवा अलौकिक विषय में वेद शब्दों का सामर्थ्य मानते हैं, अतः शक्तिग्रह होने पर सुखपूर्वक विधिमुख प्रतिपादन, तथा बोध अङ्गीकार करना चाहिये।

श्रुति को लौकिक साधन की अथवा युक्ति की अपेक्षा नहीं है, जिस प्रकार श्रुतियों को मनोरथान्त प्राप्ति हुई, उसी प्रकार गोपियों को भी मनोरथान्त प्राप्ति हुई है।

इस प्रकार परम पुरुषार्थ देने वाले भगवान् की इच्छा यदि अन्यत्र बैठने की हो तो आधारधर्म के सम्बन्ध से अपने को कृतार्थता नहीं होगी, इसलिये पूजा के लिये और आत्म निवेदन के लिये गोपियों ने भगवान् को आसन बिछाया, इस बात को शुकदेवजी 'स्वैरुत्तरीयैः' इस पद से कहते हैं।

जो गोपियां अपने प्रिय भगवान् को अपने वस्त्र आसन के लिये नहीं दें तो फिर भगवान् गोपियों का सम्बन्ध रहित अन्य वस्तु पर बैठते, अन्य वस्तु पर बैठते हैं तो इतने अंश में गोपियों की कृतार्थता नहीं होती।

पुष्टिमार्ग का तो यह सिद्धान्त है कि जिसने भगवान् को आत्मनिवेदन किया है, उसकी कोई भी वस्तु, तथा इन्द्रियादि जिस क्षण में भगवत्सेवोपयोगी न हों, उसी क्षण में उसकी कृतार्थता न होकर व्यर्थता हो जाती है, इसलिये भक्त भगवान् की अनुपयोगी वस्तु में भगवत्संबंध की इच्छा-अभिलाषा करता है। फिर जिस समय भगवान् के साथ उस वस्तु का सम्बन्ध हो जाता है, उस समय वह वस्तु कृतार्थ हो जाती है, सम्बन्ध बिना वस्तु कृतार्थ नहीं होती है, इस प्रकार यह निरुद्ध भक्तों का सिद्धान्त है।

गोपियां भी सर्वांश में भगवत्सम्बन्ध की ही अपेक्षा करती हैं, कारण कि गोपियों में जो भाव है, उसका स्वभाव ही इस प्रकार का है।

प्रभु भी इस समय गोपियों के लिये ही प्रकट हुए हैं, इसलिये स्वामिनियों के अतिरिक्त अन्य किसी की भगवान् के साथ सम्बन्ध करने में योग्यता भी नहीं है, इसी से आगे श्लोक में कहेंगे (कल्पितासनः)

गोपियों ने भगवान् के लिये अपने उत्तरीय वस्त्रों से आधारधर्म सम्बन्ध से कृतार्थता होने के लिये आसन बिछाया।

व्रज में रहने वाली स्त्रियां तीन वस्त्र पहिनती हैं।

एक वस्त्र शरीर में पहिनने का, दूसरा वस्त्र छाती ढकने का चोली–अँगिया, तीसरा वस्त्र ऊपर ओढने का, जिसको ओढनी-फरिया कहते हैं, सब गोपियों ने अपने-अपने ऊपर ओढने के वस्त्र आसन के लिये भगवान् को दे दिये, ऊपर ओढ़ने के वस्त्र भी दो प्रकार के होते हैं, एक वस्त्र सदैव ओढने में आता है, और दूसरा भोग समय काम में आता है, भोग समय काम में आने वाला वस्त्र सूक्ष्म-महीन होता है, ये महीन वस्त्र ही गोपियों ने भगवान् को दे दिये, इस बात को ज्ञापन करने के लिये कहते हैं कि 'कुचकुंकुमाङ्कितैः'।

स्तनों में लगा कुंकुम सूख गया हो, तो भी क्रीडा में आर्द्र-गीला हो जाता है, इसलिये कुचकुंकुम से अंकित उत्तरीय वस्त्र थे, उनका गोपियों ने भगवान् को आसन बिछाया।

यदि कहो कि गोपियों ने अपना ऊपर का वस्त्र भगवान् के नीचे क्यों बिछाया।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'आत्मबन्धवे' गोपियों की आत्मा का भगवान् ही बन्धु है, इसलिये गोपियों ने अभी तक आत्मरक्षण भगवान् के लिये ही किया है, यहां आत्मा शब्द का अर्थ देह, तथा अपनी आत्मा है, अर्थात् गोपियों का देह तथा आत्मा भगवदर्थ ही है, इसलिये ऊपर ओढने का वस्त्र भी भगवान् के लिये ही है, अतः उत्तरीय वस्त्र का आसन बिछाना उचित ही है ॥ १३ ॥

(सुबो०) ततो भगवान् तासु सर्वत्र निविष्ट इति ख्यापयितुं तद्दत्तासन उपविष्ट इत्याह तत्रोपविष्ट इति।

आसन बिछाने के अनन्तर भगवान् गोपियों में सर्वत्र विराजमान हुए, इस बात को प्रसिद्ध करने के लिये भगवान् गोपियों के दिये आसन के ऊपर बैठ गये, इसको शुकदेवजी कहते हैं, आसनरचना कथन से ही बैठना प्राप्त हो जाता है, फिर 'तत्रोपविष्टः' इस पद से पुनः आसन पर बैठना क्यों कहा। इसके उत्तर में पुनः कथन का तात्पर्य यह है कि भगवान् वस्त्र द्वारा वस्त्रों के पहिनने वाली सर्वगोपियों में विराजमान हुए, इस लिये पुनः कथन है।

तत्रोपविष्टो भगवान् स ईश्वरो,
योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः।
चकास गोपीपरिषद्गतोऽर्चित-
स्त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुर्दधत् ॥ १४ ॥

पदपदार्थ—(योगेश्वरान्तर्हृदि') योगेश्वरों के भीतर हृदय में (कल्पितासनः) कल्पित है आसन जिसका (सः) वह (ईश्वरः) ईश्वर (भगवान्) षडैश्वर्यवान् (तत्र) आसन पर (उपविष्टः) बैठ गया (त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं) तीनों लोक की लक्ष्मी-शोभा का एक स्थान (वपुः) शरीर को (दधत्) धारण करता (गोपीपरिषद्गतः) गोपियों की सभा में प्राप्त (अर्चितः) गोपियों से पूजित (चकास) परम शोभा को प्राप्त हुआ ॥ १४ ॥

भाषार्थ—योगेश्वरों के भीतर हृदय में कल्पित आसन जिसका इस प्रकार का वह ईश्वर भगवान् गोपियों के उत्तरीय वस्त्ररूप आसन पर बैठ गया, अर्थात् वस्त्र द्वारा सब गोपियों में विराजमान हो गया और तीनो लोक की लक्ष्मी शोभा का एक ही स्थान रूप शरीर धारण करता गोपियों की सभा में प्राप्त गोपियों से पूजित परम शोभा को प्राप्त हुआ ॥ १४ ॥

(सुबो०) भगवानिति तेषां कार्यसाधकत्वम्। ननूत्तरीयवस्त्रापगमे सभायां रसाभासो भवेत्, अतः कथमुपविष्ट इति चेत्, तत्राह स ईश्वर इति। सः पूर्वं प्रार्थितः। ईश्वरः सर्वकरणसमर्थः। अतस्तासां दिव्यानि वस्त्राणि सम्पन्नानीति बोधितम्। येषां जलक्रीडायां न वाससामार्द्रता। अतः सर्वकरणसमर्थः तत्रोपविष्टः सः प्रार्थितः। यद्वा वरदानसमये वस्त्रेष्वपहृतेषु सर्वथा तदभावे यस्य रसाभासो न जातः, तस्य केवलमुत्तरीयाभावे कथमधुनापि स भवेदिति वक्तुं स इत्युक्तवान्। ननु तदानीमपि कथं न रसाभास इत्यत आह ईश्वर इति। कर्तुं सामर्थ्यवत्त्वात्। यदि स भवेत्, तदा तथा न कुर्यादेव। अकर्तुं सामर्थ्यवत्त्वेन रसाभासहेतुत्वेपि तद्दत्तमासनं त्यक्तुमशक्यमेव। अन्यथाकर्तुं सामर्थ्यवत्त्वेन रसाभासप्रकारेणापि रसमुत्पादयितुं शक्तः। अतस्तादृशे न किञ्चिदनुपपन्नमिति भावः। ननु भगवान् अपवित्रे भोगादिलेपयुक्ते कथमुपविष्ट इति चेत् तत्राह योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासन इति। योगेश्वराणां हृदयं शुद्धम्। तत्राप्यन्तर्हृदयम्। तत्रापि कल्पितमेव भगवदासनम्, न तु

क्लृप्तम् । मानसी मूर्तिस्तिष्ठति, न तु कदाचिदपि स्वयमुपविष्ट इति मुख्यमासनमेतदेव । अतश्चकास, परमशोभां प्राप्तवान् । पूर्ववद् गोपीनां परिषदं गतश्च जातः । परितो गोपिका उपविष्टा इत्यर्थः । सभापतिर्भगवान् । अतस्ताभिरर्चितः । ततो भगवान् तासामर्थे त्रैलोक्ये यावन्ति लक्ष्मीरूपाणि इन्द्रपदादीनि, तासां तदेकं पदं, यस्यांशविलासाः तत्तल्लक्ष्मीभोक्तारः, तादृशं वपुर्धृतवान् । अस्मिन्नर्थे देशकालादिभेदेन यावन्त उत्कृष्टा अर्था अपेक्ष्यन्ते, तान् प्रकटितवान्, तादृशवपुर्धारणेन ॥ १४ ॥

मूल में भगवान् शब्द कहा हैं, इसका तात्पर्य यह है कि गोपियों के वस्त्रों का कार्य साधकता है, अर्थात् वस्त्रद्वारा भगवान् के साथ गोपियों का सम्बन्ध सम्पादन होता है, कारण कि बैठने वाले भगवान् हैं ।

इस प्रकार कहने से यह भी स्पष्टसूचन कर दिया है कि भगवान् के लिये समर्पण किये पदार्थ का अङ्गीकार करने पर उस पदार्थ द्वारा अपने को भी भगवान् का सम्बन्ध हो जायेगा, अतः इस भाव से भगवान् के लिये भक्तों को सब पदार्थ समर्पण करने चाहिये ।

इस प्रकार यहां अपने भक्तों को उपदेश भी किया है ।

यदि कहो कि गोपियों के उत्तरीय वस्त्रों के जाने से सभा में रसाभास हो जायेगा, अतः भगवान् क्यों बैठे ।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि (स ईश्वरः) जिसकी गोपियों ने पहले प्रार्थना की थी, वह ईश्वर सब करने में समर्थ है, इसलिये गोपियों को दिव्य वस्त्र, जो कामरूप व्रतचर्या में भगवान् ने दिये थे उनका यहां बोध कराया है, ये दिव्य वस्त्र जलक्रीडा के अनन्तर आर्द्र-गीले नहीं रहते हैं, अर्थात् दिव्य वस्त्रों में गीलापन नहीं रहता है। इसलिये सर्वकरणसमर्थ ईश्वर गोपियों ने जिसकी पहिले प्रार्थना की थी, वह वहां बैठा है । फिर रसाभास कैसे हो सकता है ।

अथवा पहिले वरदान समय में भगवान् ने गोपियों के सब वस्त्र अपहरण कर लिये थे, उस समय गोपियों के शरीर में एक भी वस्त्र नहीं था, तब वस्त्रों के अभाव में रसाभास नहीं हुआ था, फिर यहां केवल उत्तरीय वस्त्र के अभाव में भगवान् को इस समय कैसे रसाभास हो सकता है, इसी बात को कहने के लिये मूल में 'स' पद कहा है । यदि कहो कि वरदान समय में भी रसाभास क्यों नहीं हुआ, रसाभास तो उस समय भी था ।

अब इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'ईश्वरः' वह भगवान् ईश्वर है, ईश्वर में कर्तुं सामर्थ्य, अकर्तुं सामर्थ्य, और अन्यथा कर्तुं सामर्थ्य होता है ।

यहां भगवान् ने कर्तुं सामर्थ्य दिखाया है ।

यदि रसाभास हो, तो भी ईश्वर अपने करने के सामर्थ्य से रसाभास नहीं होने देगा । नहीं करने के सामर्थ्य से गोपियों द्वारा अपने उत्तरीय वस्त्रों से बिछाया आसन रसाभास उत्पन्न करने वाला है, तो भी भगवान् गोपियों का दिया आसन त्याग नहीं सकते हैं ।

अन्यथा-अन्य प्रकार से करने के सामर्थ्य से रसाभास प्रकार से भी रस उत्पन्न करने में ईश्वर शक्त-समर्थ है, इसलिये इस प्रकार के ईश्वर में कभी कोई भी बात अघटित नहीं होती है, यह भाव है ।

यदि शंका करो कि भगवान् अपवित्र भोगादि के लेप से युक्त वस्त्रों के ऊपर क्यों बैठे ।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः' योगेश्वरों का हृदय शुद्ध होता है, उसमें भी भीतर का हृदय अत्यन्त शुद्ध होता है, उस भीतर के हृदय में भी योगेश्वर भगवान् के लिये कल्पित ही आसन बिछाते हैं, किन्तु साक्षात् आसन नहीं बिछाते हैं, योगेश्वरों के हृदय में भगवान् की मानसी मूर्ति विराजमान रहती है, किन्तु स्वयं भगवान् कभी भी विराजमान नहीं होते हैं ।

इससे स्पष्ट होता है कि भगवान् का मुख्य आसन गोपियों के दिये वस्त्र ही हैं ।

लोक तथा वेद में पवित्रता से जिस प्रकार की वस्तु स्वीकार नहीं है, यदि उस प्रकार की वस्तु भी गोपियों की सम्बन्धी है, तो उसको भगवान् योगेश्वरों के भीतर हृदय से भी अधिक जहां स्वीकार करते हैं, वहां फिर लोक तथा वेद में स्वीकार की हुई प्रसिद्ध वस्तु, गोपियों के सम्बन्धी वस्त्र भगवान् स्वीकार करते हैं, तो इसमें क्या बात है ।

इस भाव के ज्ञापन करने के लिये मूल में 'योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः' कहा है ।

भगवान् गोपियों के उत्तरीय वस्त्रों के आसन पर बैठकर परम शोभित हुए हैं, और पहले की तरह गोपियों की सभा में प्राप्त हुए, भगवान् के चारों ओर गोपियां बैठ गईं, भगवान् मध्य में सभापति हो गये, इसलिये गोपियों ने भगवान् का पूजन किया ।

अनन्तर भगवान् गोपियों के लिये तीनों लोक में जितने लक्ष्मी रूप इन्द्र पद आदि हैं उन सबका जो एक पद-स्थान जिस पद के अंश विलास हैं, उस उस लक्ष्मी के भोग करने वाले हैं । उस प्रकार का श्रीअङ्ग भगवान् ने धारण किया है ।

इस प्रकार का अर्थ साधन करने में देश काल आदि भेद से जितने उत्कृष्ट उत्तम पदार्थों की अपेक्षा होती है, उन सब पदार्थों को स्वीकार कर इस प्रकार का श्री अङ्ग धारण करके प्रकट हुए ॥ १४ ॥

(सुबो०) एवं प्रसन्नं भगवन्तं दृष्ट्वा स्वान्तःकरणदोषदूरीकरणार्थं स्वकृतघ्नतां पूर्वं भगवति कल्पितवत्य इति तन्निराकरणार्थं लोकदृष्ट्या भगवति कृतघ्नतालक्षणो दोषोऽस्ति न वेति निर्णयार्थं किञ्चित् प्रष्टुमुद्यता इत्याह सभाजयित्वेति ।

गोपियां इस प्रकार भगवान् को प्रसन्न देखकर अपने अन्तःकरण का दोष दूर करने के लिये, पहले भगवान् में जो अपनी कृतघ्नता कल्पित की थी, उस कृतघ्नतारूप दोष के निराकरण करने के लिये लोकदृष्टि से भगवान् में कृतघ्नता लक्षण दोष है, अथवा नहीं है, इस बात का निर्णय करने के लिये कुछ प्रश्न करने को उद्यत हुईं, इसको आगे श्लोक में शुकदेव जी कहते हैं ।

परोक्ष भजन करके प्रभु ने हम गोपियों को विरह रस का दान दिया है, इस प्रकार का ज्ञान गोपियों को नहीं था, अतः इस प्रकार का अज्ञान ही गोपियों में कृतघ्नतादोष है, प्रभु में तो उक्त कृतघ्नतादोष नहीं है । इसलिये इस दोष का आरोप ही प्रभु में संभव हो सकता है, और वह आरोप जो पदार्थ ग्रहण करने में, अथवा स्मरण करने में आता है, उस वस्तु का संभव हो सकता है, स्वामिनियों को तो प्रिय भगवान् के बिना अन्य धर्म की स्फूर्ति नहीं है, इसलिये उक्त नियम के अनुसार अपने में रहने वाला कृतघ्नता रूप दोष का भगवान् में आरोप किया है, यह

आरोप भी रसमध्यपाती ही है, इसलिये इसको दोष कहना उचित नहीं है, तथापि भगवान् में दोष का अभाव शास्त्रसिद्ध है, आरोप भ्रम होता है, इस नियम से शास्त्ररीति का अवलम्बन करके इस प्रकार कहा है, आगे भी जहां दोषपद हो वहां इसी प्रकार तात्पर्य जानना चाहिये।

सभाजयित्वा तमनङ्गदीपनं सहासलीलेक्षणविभ्रमद्भ्रुवा।
संस्पर्शनेनाङ्ककृताङ्घ्रिहस्तयोः संस्तुत्य ईषत्कुपिता बभाषिरे ॥१५॥

पदपदार्थ—(सहासलीलेक्षणविभ्रमद्भ्रुवा) हास्यपूर्वक जो लीलायुक्त देखना, उससे विलास करनेवाली भ्रुकुटी से (अनङ्गदीपनं) काम उत्पन्न करने वाले (तम्) उस भगवान् को (सभाजयित्वा) स्तुति करके (अङ्ककृताङ्घ्रिहस्तयोः) अपनी गोद में स्थापित भगवान् के चरण, उसके सम्बन्धी हस्तों का (संस्पर्शनेन) सम्यक् प्रकार से स्पर्श करके (संस्तुत्य) स्तुति करके (ईषत्कुपिताः) कुछ कुपित हुई गोपियां (बभाषिरे) बोलीं ॥ १५ ॥

भाषार्थ—हास्यपूर्वक जो लीलायुक्त देखना, उस देखने से विलास करनेवाली भ्रुकुटी से अनङ्ग-काम उत्पन्न करने वाले भगवान् की स्तुति करके अपनी गोदी में स्थापित भगवान् के चरण, उनके सम्बन्धी हस्तों का सम्यक् प्रकार से स्पर्श करके लड़ लड़ाती गोपियां भगवान् की स्तुति करके कुछ कुपित हुई बोलीं ॥ १५ ॥

(सुबो०) प्रश्नार्थं प्रथमतः सभाजनं स्तोत्रं कृत्वा। ननु किमनेन विचारेण साम्प्रतम्, जातं फलं भुज्यतामिति चेत्, तत्राह अनङ्गदीपनमिति। अनङ्गं दीपयति निरन्तरमेव। अङ्गाभावं सम्पादयतीति च ध्वनिः। अतो नैकेन भोगेन कार्यनिष्पत्तिः। पुनस्तेनापि भोगेनाग्रे अधिक एव खेदः स्यात्। स चेत् स्वदोषेण, तदा दोषो दूरीकर्तव्यः। भगवद्धर्मेण चेत्, वाङ्निर्बन्धं कारयित्वा प्रार्थयित्वा वा फलानुभवः कर्तव्य इति भावः। अनङ्गदीपने साधनमाह सहासेति। साधना भावार्थं वा प्रार्थनीय इति साधनकीर्तनम्। हासपूर्वकं यल्लीलेक्षणं, तेन विभ्रमन्ती या भ्रूः, तया अनङ्गं दीपयति। पञ्चात्र साधनानि। हास लीला ईक्षणं विलासाः भ्रूश्चेति। पञ्च चेद्धेतवः कार्यमप्रतिहतं भवति। माया व्यामोहिका स्वरूपविस्मारणार्थम्। लीलास्वासक्तिं साधयति। ईक्षणं तत्र ज्ञानजनकम्। अन्यथा ज्ञानान्तरेण तन्निराकरणं स्यात्। विलासाः पोषकाः। भ्रूर्यमः नियन्ता काल इति। यावत्प्रसाददाता वा तत्रैव। ततः प्रश्नार्थं उपढौकनं कुर्वन्ति संस्पर्शनेनेति। अङ्के कृतः स्थापितो यो भगवदङ्घ्रिः, एतत्संबंधिनौ यौ हस्तौ, तयोः सम्यक् स्पर्शनेन सँल्लालयन्त्य इत्यर्थः। संस्पर्शनेन सहिताः। तत आभिमुख्यार्थं संस्तुत्य। एवं सर्वभावेन प्रपन्नानपि त्यजतीति भगवति दोषदृष्ट्या ईषत्कुपिताः। साधनैर्निवर्तितोऽपि दोषो न सम्यक् निवर्तते, यावद् भगवान्न निवर्तयतीति। अतो विवादमिव कुर्वन्त्यो बभाषिरे ॥ १५ ॥

लोक में यह बात प्रत्यक्षसिद्ध है कि किसी से कुछ पूछना होता है तो प्रथम उसकी प्रशंसा करते हैं, गोपियों ने भी भगवान् से प्रश्न करने के लिये पहिले भगवान् की स्तुति की।

यदि शंका करो कि गोपियों को इस समय प्रश्न करने की क्या आवश्यता थी, भगवान् में कृतघ्नता दोष है, अथवा नहीं, इस विचार से इस समय क्या प्रयोजन है, कारण कि इस समय तो भगवान् सर्वसामग्रीसहित गोपियों को फलदान करने के लिये पधारे हैं, अतः प्राप्त हुए फल का भोग करना चाहिये।

इस प्रकार की शंका के उत्तर में शुकदेवजी कहते हैं, कि 'अनङ्गदीपनं' भगवान् निरन्तर ही अनङ्ग-काम को दीपन करते हैं, अङ्गाभाव-देह के अनुसंधान का अभाव संपादन करते हैं, इस प्रकार यहां ध्वनि है, अर्थात् भक्त अपनी देह का जिस प्रकार अनुसंधान भूल जाते हैं, उसी प्रकार को करते हैं, इसलिये अनङ्गदीपन होने से एक बार भोग करने से कार्यसिद्धि नहीं होगी, कारण कि एक बार भोग से भी आगे फिर अधिक खेद ही प्राप्त होगा। और यदि खेद अपने-गोपियों के दोष से हो, तो दूर करना चाहिये, और खेद यदि भगवान् के धर्म से हो, तो भगवान् की वाणी का निबंन्ध कराके—अर्थात् उनकी वाणी से दोष की स्वीकृति कराके, अथवा हमारे दोष से हो तो वाग्व्यवहार से प्रार्थना करके फल का अनुभव करना चाहिये, इस प्रकार गोपियों का भाव है।

अब शुकदेवजी अनङ्गदीपन करने में साधन कहते हैं, (सहास०) इत्यादि से।

अथवा भगवान् अनङ्गदीपन करने का साधन नहीं करे, इसके लिये प्रार्थना करनी चाहिये, अतः मूलश्लोक में 'सहास०' इत्यादि से साधन कहा है, हास्यपूर्वक जो लीलायुक्त ईक्षण, उस देखने से विलास करती जो भ्रुकुटि, उस भ्रुकुटि से भगवान् अनङ्ग का दीपन करते हैं।

अनङ्ग-कामदीपन करने में पांच साधन हैं, जिनके द्वारा काम का दीपन होता है (१) हास, (२) लीला, (२) ईक्षण-देखना, (४) विलास, (५) भ्रू, भ्रुकुटि, इन पांच हेतुओं के होने पर कार्य विना किसी प्रतिबंध के सिद्ध हो जाता है।

लोक में भी पञ्चों करके साधित कार्य अप्रतिहत विना रुकावट हो जाता है, इस प्रकार प्रसिद्धि है।

हास्यरूप भगवान् की माया व्यामोह करनेवाली है, अर्थात् भक्त माया के द्वारा अपने स्वरूप को भूल जाता है।

भगवान् की लीला, भगवान् में आसक्ति साधन करती है, अर्थात् लीला में आसक्ति साधन करती है।

ईक्षण लीला में ज्ञान उत्पन्न करता है, यदि ईक्षण भगवान् का ज्ञान उत्पन्न नहीं करे तो लीला से अतिरिक्त ज्ञान होने से लीला का निराकरण हो जाये, इसलिये जिस समय भगवान् दृष्टि से सूचन करते हैं, उसी समय चिकीर्षित लीला का ज्ञान होता है, अर्थात् इस समय भगवान् की इच्छा यह लीला करने की है, इस प्रकार का ज्ञान दृष्टि से हो जाता है।

भ्रू-भ्रुकुटि यम-काल है, जो नियमन करता है वह यम-काल है, काल के विलम्ब से कदाचित् गोपियों का वह भाव नष्ट हो जाये, इसलिये भाव नष्ट नहीं हो काल के विलम्ब से, इसके लिये उस भाव का नियमन, तथा सदा उस भाव की स्थिति भगवान् की यमरूप भ्रुकुटि करती है, इसलिये भगवान् की भ्रुकुटि को यम कहा है।

भगवान् की भ्रुकुटि यमरूप क्यों है, इसमें हेतु कहते हैं कि 'नियन्ता कालः' काल सर्व का नियमन करता है, और भगवान् की भ्रुकुटि भी नियमन करती है, इसलिये यम-कालरूप है, अथवा भ्रुकुटि यहां फल का ही नियमन करती है, इस बात को आगे कहते हैं, 'यावत्प्रसाददाता वा' भगवान् जितना प्रसाद है, उसके दाता हैं, अर्थात् अनङ्ग-कामभाव में ही संपूर्ण स्वरूपानन्द के दाता हैं, अन्यत्र नहीं, इसके अनन्तर गोपियां प्रश्न करने के लिये भगवान् को लाड़ लड़ाती हैं, इस बात को आगे शुकदेवजी कहते हैं।

'संस्पर्शनेन' गोपियों ने अपनी गोद में भगवान् का चरण स्थापन किया, उस चरण के संबंधी दोनों हाथों को सम्यक् स्पर्श करके लाड़ लड़ा रही हैं, अर्थात् भगवान् स्वामिनी की गोद में स्थापित अपने चरण ऊपर दोनों हस्त स्थापन करके विराजमान थे, इस प्रकार यहां स्वच्छन्द स्थिति के अनुकरण का सूचन किया है।

मूल श्लोक में 'संस्पर्शनेन' यह पद है, इसमें 'संस्पर्शनेन सहिताः' तृतीया विभक्ति सह अर्थ में है, इसलिये गोपियां सम्यक् प्रकार से स्पर्शसहित भगवान् को लाड़ लड़ा रही हैं, इस प्रकार अर्थ होता है इसके अनन्तर भगवान् का हमारी तरफ ध्यान हो जाये, इसके लिये गोपियों ने भगवान् की स्तुति की।

यहां पर इस प्रकार क्रम है, गोपियों ने प्रथम भगवान् से कहा कि बहुत अच्छा हुआ जो आपका आगमन हो गया, इस प्रकार सभाजनरूप स्तोत्र कहा, फिर चरण, हस्त का संस्पर्शन, फिर अपने संमुख करने के लिये 'हे स्वामिन्' इत्यादि रूप स्तुति की, और इस प्रकार सर्वभाव से आपकी शरण आई हुई हम सबका आप त्याग करते हो, इस प्रकार की भगवान् में दोष-दृष्टि से गोपियां थोड़ी कुपित हो गईं।

गोपियों ने भगवान् के हस्तकमल धारण आदि साधन किये थे, इन साधनों से गोपियों का दोष निवृत्त भी हो गया था, किन्तु सम्यक् निवृत्त नहीं हुआ था, कारण कि जब तक भगवान् वाणी से दोष निवारण नहीं करे, तब तक दोष समूल नष्ट नहीं होता है, इसलिये गोपियां विवाद की तरह करती हुई बोलीं।

यहां पर भी दोषपद प्रथम आभास में कहा है, उसी तरह जानना चाहिये, यदि कहो कि जो दोष स्वरूप से निवृत्त नहीं होता है, वह वाणी से कैसे निवृत्त होगा ? कारण कि वचन स्वरूप से दुर्बल है, इस प्रकार प्रथमाध्याय में प्रतिपादन किया है, इस प्रकार यदि शंका हो तो इसके उत्तर में श्रीप्रभुचरण कहते हैं कि यहां पर यह भाव है कि 'रसो वै सः।'

इत्यादि श्रुति के अनुसार भगवान् भावात्मक है. वह भगवान् इस समय दोषात्मक हुआ है, कारण कि रस का स्वरूप ही इस प्रकार का है, स्वामिनियों में जो भाव प्रकट हुआ, उसका मूल कारण भगवान् का किया वेणुनादात्मक शब्द है, इसलिये निर्दोष पूर्णगुण रूप भाव का आविर्भाव भी वाणी रूप शब्द से होगा, इसमें कौन सी बात अनुचित है और जिस प्रकार का रस वीक्षण से मिलता है, उस प्रकार का रस स्पर्श आदि से नहीं मिलता है तथा जिस प्रकार का रस संभाषण से मिलता है, उस प्रकार का रस ईक्षण से नहीं मिलता है, इस प्रकार तत्, द्रसका स्वभाव है। उसी प्रकार हमको छोड़कर भगवान् क्यों गये। इस प्रकार के आप अपने वचनों से ही स्वजनों का हृदय शीतल करो, यह भाव है। पहले अध्याय में भी इसी प्रकार जानना चाहिये, अतः मूल में जो कहा है कि 'साधनैर्निवर्तितोऽपि दोषो न सम्यक् निवर्तते' साधनों से निवृत्त हुआ भी दोष सम्यक् प्रकार से निवृत्त नहीं होता है, यह ठीक ही कहा है।

यदि शंका करो कि गोपियां इस समय प्रभु हमारा भजन करता है, अथवा नहीं भजन करता है, इसका निर्णय करने के लिये उद्यत हुई हैं, फिर इस बात को स्पष्ट न कहकर साधारण रीति से प्रश्न करने का क्या कारण है ? इस प्रकार की शंका के उत्तर में कहते हैं कि यदि गोपियां भगवद्विषयक प्रश्न को ही साक्षात्-स्पष्ट शब्दों में करें तो हम गोपियां इस प्रकार की भक्त हैं, और आप इस प्रकार की हमको क्यों त्याग करते हो, यह प्रश्न होता, किन्तु इस प्रकार का प्रश्न नायिकाओं में उत्तम स्त्रीरत्न, आगे भगवान् द्वारा जिनकी स्तुति की गई, इस प्रकार की स्वामिनियों के मुखकमल से निकलने योग्य नहीं है। इस प्रकार का प्रश्न तो ग्रामीण रसाभास-युक्त स्त्रियों के मुख से निकल सकता है, शरद् ऋतु में खिले हुए कमल से इमली का खट्टा रस निकलने का सम्भव नहीं होता है, अतः व्याज से अन्य प्रकार से परोक्षरीति के प्रश्न करने पर अपना भाव गुप्त रहने के कारण महान् रस उत्पन्न होता है, इसलिये यहां मुख्य रस के स्वभाव से ही गोपियों ने स्पष्ट प्रश्न न करके व्याज से प्रश्न किया है, इस प्रकार जानना चाहिये।

भगवान् तो जीवों से विलक्षण है, इसलिये अपने को जीवों से विलक्षण—भिन्न कहना है।

जीव के स्वरूप का ज्ञान बिना, जीव से भगवान् विलक्षण है, इस प्रकार का ज्ञान नहीं होगा, इसलिये जीव का स्वरूप कहकर अपना स्वरूप भगवान् ने बतलाया है।

यदि यह बात न हो तो स्वामिनियों का तात्पर्य प्रश्नविषय भगवान् स्वयं ही है, फिर जीवों का निरूपण करना नहीं चाहिये था ॥ १५ ॥

(सुबो०) तासां प्रश्नमाह भजत इति।

अब आगे के श्लोक में गोपियों का प्रश्न कहते हैं।

गोप्य ऊचुः—

भजतोऽनुभजन्त्येक एक एतद्विपर्ययम्।
नोभयांश्च भजन्त्येक एतन्नो ब्रूहि साधु भोः ॥ १६ ॥

पदपदार्थ—(एके) कितने ही (भजतः) भजन करने वाले के (अनुभजन्ति) अनुसार भजन करते हैं, (एके) कितने ही (एतद्विपर्ययम्) भजन नहीं करने वाले का भजन करते हैं, (एके) कितने ही (उभयांश्च) भजन करने वाले तथा भजन नहीं करने वाले दोनों का (न) नहीं (भजन्ति) भजन करते हैं, (एतत्) यह सर्व (भोः) हे सावधानता से (नः) हमारे प्रति (साधु) अच्छे प्रकार से स्पष्ट (ब्रूहि) कहो ॥ १६ ॥

भाषार्थ—गोपियां कहने लगीं कि कितने ही लोग अपना भजन करने के अनुसार भजन करते हैं, कितने ही अपना भजन नहीं करने वाले का भजन करते हैं, और कितने ही लोग भजन करने वाले तथा भजन नहीं करने वाले दोनों का भजन नहीं करते हैं, यह सर्व सावधानता से हमारे प्रति स्पष्ट कहो ॥ १६ ॥

(सुबो०) त्रयः पक्षाः सन्दिग्धाः, फलतः, स्वरूपतश्च, भजनाभजनाभ्याम्। तत्रैके ये यथा भजन्ति, ते तथा तानपि भजन्ति। एके पुनरभजतोऽपि भजन्ति। अन्ये तु उभयानपि न भजन्ति। तेषां त्रयाणां उभयोरपि प्रतियोगिनोः फलं

वक्तव्यम्। ये भजनानुसारेण भजन्ति, ते किं कृतघ्नाः, आहोस्वित् धूर्ताः, आहोस्वित समीचीना इति। केनचित् पादप्रक्षालनं कृतम्, सोऽपि चेत् करोति, तदा किं स्यात्। फलार्थंकरणे फलं देयम्। तेनापि तदेव कर्तव्यमिति करणे तदेव कर्तव्यम्। निरपेक्षकरणे तु सन्देह एव। अभजतो भजने क्वचिद्दोषः स्यात यथा निष्कामे कामिनी। क्वचिदुपकारः, अपेक्षितश्चेदर्थः। क्वचित स्नेहः। क्वचिद्धर्म इति। एकं फलं निर्धारितं वक्तव्यम्। यो वा न भजति पूर्वः, तस्य वा किं फलमिति। ये वा नोभयविधान् भजन्ति, तेषामुभयविधानां वा किं फलमिति। कृतस्य साधनस्य कुत्र वा उपयोगः। एतत् सर्वं ब्रूहि। साधु यथा भवति तथा। भो इति सम्बोधनं सावधानार्थम्। भजतः पुरुषा ननु तदनुसारेण भजन्ति। एके पुनः भजनव्यतिरेकेणैव भजन्ति। इत्युभये भजनकर्तारः। अन्ये तु भजनरहिता एव ॥ १६ ॥

भजन तथा अभजन से फल तथा स्वरूप विषय में तीनों पक्षों में संदेह है, अर्थात् दो पक्ष का फल तथा प्रथम पक्ष का स्वरूप क्या है।

उसमें कितने ही पुरुष जिस प्रकार से अपना अन्य पुरुष भजन करते हैं, उसी प्रकार से उन भजन करने वालों का भजन करता है, यह प्रथम पक्ष है।

कितने ही पुरुष जो अपना भजन नहीं करते हैं, उन भजन करने वालों का भजन करते हैं, यह दूसरा पक्ष है।

अन्य कितने ही पुरुष तो भजन करने वाले तथा भजन नहीं करने वाले, दोनों का ही भजन नहीं करते हैं, यह तीसरा पक्ष है, इस प्रकार भजन करने से तथा भजन नहीं करने से तीन पक्ष होते हैं अर्थात् भजन के अनुसार भजन करने वाला प्रथम पक्ष, नहीं भजन करने वाले का भजन करने वाला द्वितीय पक्ष, और पूर्वोक्त दोनों का भजन नहीं करने वाला तृतीय पक्ष है, उक्त तीनों पक्षों के मध्य में द्वितीय तथा तृतीय पक्ष के प्रतियोगियों का फल कहना चाहिये।

द्वितीय पक्ष में जो भजन करने वाले का भजन नहीं कर रहा है, उसका जो भजन करता है, वह एक प्रतियोगी, और तीसरे पक्ष में जो भजन करने वाले का भजन नहीं करता है, वह दूसरा प्रतियोगी, इस प्रकार इन दोनों प्रतियोगियों का फल कहना चाहिये।

प्रथम पक्ष, भजन करने वाले के अनुसार जो भजन करते हैं, इस पक्ष में तो प्रतियोगी का फल भजन करने वाले का प्रतियोगी जो भजन करता है, उसका फल दूसरे का किया भजन स्पष्ट ही हैं, इसलिये निःसंदेह होने से प्रथम पक्ष का उल्लेख सुबोधिनी में नहीं किया है।

संदेह तो द्वितीय तथा तृतीय पक्ष में है, अतः उक्त दोनों पक्षों में फल विषयक सन्देह तथा तीनो पक्षों का स्वरूप विषयक संदेह निवारण करना चाहिये।

जो मनुष्य अन्य पुरुष के भजन के अनुसार भजते हैं, वे क्या कृतघ्न हैं। अथवा धूर्त हैं। अथवा समीचीन अच्छे हैं। इस प्रकार प्रथम पक्ष का स्वरूप निर्णय गोपियां पूछती हैं।

अन्य पुरुष के भजन रूप उपकार को नहीं मानकर, भजन का फल देने की इच्छा नहीं करता है और अपने किये भजन को अधिक मानकर भजन ही करते हैं, प्रत्युपकार करने का

सामर्थ्य होते भी प्रत्युपकार नहीं करते हैं, और अन्यकृत भजन को निकृष्ट समझते हैं, इसलिये कृतघ्नता की संभावना होती है।

अथवा अपने किये भजन रूप प्रत्युपकार से अन्य पुरुष के किये भजन का नाश करते हैं, अर्थात् अन्य पुरुष को जो भजन से मुख्य फल मिलता है, उसका सम्पादन नहीं करते हैं, इसलिये कृतघ्न हैं।

अब दूसरा पक्ष 'अथवा धूर्त हैं' इसको कहते हैं।

अन्य पुरुष के किये भजन को उपकार मानने पर भी जो पुरुष अपने किये भजन के समान अन्य पुरुष के भजन को मानता है, और अन्य पुरुष के भजन का उत्कर्ष नहीं मानता है, वंचन करता है कि यह अन्य पुरुष मेरा धन प्राप्ति के लिये भजन करता है, किन्तु इसके लिये धन तो देता नहीं है, इसका भजन मुझको करना चाहिये, इस प्रकार की बुद्धि से जो लोग भजन करते हैं, उनमें धूर्तता का संभव होता है।

जिसका अन्य पुरुष धन के लिये भजन करता है, उसके पास धन विद्यमान भी है, किन्तु उसको धन देता नहीं है, इसलिये धूर्त है।

अब तीसरा पक्ष 'अथवा समीचीनाः' इसका विवरण करते हैं, किसी पुरुष ने अन्य पुरुष का पाद प्रक्षालन किया—चरण धोये, अन्य पुरुष भी यदि पाद प्रक्षालन करता है तो क्या होगा? यदि फल के लिये पाद प्रक्षालन करता है, तो फल देना चाहिये, और यदि प्रथम पुरुष ने मैं जिस प्रकार इसके पाद प्रक्षालन करता हूँ, उसी प्रकार दूसरे अन्य पुरुष को भी मेरा पाद प्रक्षालन करना चाहिये, इस भाव से पाद प्रक्षालन करने पर अन्य पुरुष को भी प्रथम पाद प्रक्षालन करने वाले का क्या पाद प्रक्षालन ही करना चाहिये? और निरपेक्ष भजन करने में, अर्थात् पूर्व पुरुष निरपेक्ष भाव से भजन करता है, तो अन्य पुरुष को प्रत्युपकार का निश्चय न होने के कारण संदेह ही रहता है, अर्थात् पूर्व पुरुष—जिसने निरपेक्ष भाव से अन्य पुरुष का भजन किया है, उसकी फलापेक्षा का ज्ञान नहीं होता है, इसलिये द्वितीय अन्य पुरुष विचार करता है कि इसका प्रत्युपकार मैं क्या करूं। इस प्रकार फलदान में तथा भजन करने में संदेह युक्त होने से वह द्वितीय पुरुष फिर प्रथम पुरुष का अपना भजन करने का भार अङ्गीकार करता है, अतः समीचीन है।

इस प्रकार संदेह बीज तीनों प्रकार के परस्पर भजन करने वालों का दर्शन ही है, इस प्रकार प्रथम पक्ष में स्वरूप संदेह का विवरण किया है।

अब द्वितीय पक्ष में फल सन्देह का विवरण करते हैं।

जो पुरुष भजन नहीं करता है, उसका भजन करता है तो उसको कहीं दोष भी होता है, 'कश्यपजी' संध्या समय में संध्यावंदन आदि कर रहे थे, और निष्काम थे, इनका भजन दिति ने किया था, अतः दिति को दोष प्राप्त हुआ था, यह प्रसङ्ग भागवत तृतीय स्कंध अ० १४ में कहा है। और कहीं पर यदि अपेक्षित पदार्थ हो तो उपकार होता है, इसका उदाहरण भा० पञ्चम स्कंध दूसरा अध्याय आग्नीध्र का उपाख्यान है, ब्रह्माजी ने पूर्वचित्ति नाम की अप्सरा को प्रियव्रत के पुत्र आग्नीध्र के समीप भेजा था, आग्नीध्र का विवाह नहीं हुआ था, किन्तु इसको पितृलोक की इच्छा थी, और पूर्वचित्ति अप्सरा के सम्बन्ध से इसके नव पुत्र हुए थे, आग्नीध्र ने इसका प्रत्युपकार—अर्थात् ब्रह्मा का भजन नहीं किया था, तो भी उन्होंने पूर्वचित्ति नाम की अप्सरा, को जो आग्नीध्र का अपेक्षित पदार्थ थी, भेजा था, इसलिये ब्रह्मा का आग्नीध्र के ऊपर उपकार हुआ।

और कहीं पर स्नेह होता है, इसमें उदाहरण भागवत नवम स्कंध में उर्वशी का उपाख्यान है, और कहीं पर धर्म भी होता है, धर्म का उदाहरण महाभारत में सुदर्शन का उपाख्यान है, भारत में उत्तर पुरुष भजन करता है, पूर्व नहीं करता है तथा धर्म का उदाहरण पद्मपुराण के वैशाख माहात्म्य में चित्रा का उपाख्यान है।

इस प्रकार नाना फल का स्मरण होने से द्वितीय प्रतियोगी, अभजन करने वाले का जो भजन करने वाला है, उसके फल विषयक सन्देह का विवरण किया है, अतः निर्धारित एक फल कहना चाहिये। यहां स्वरूप सन्देह भी आनुषङ्गिक जानना चाहिये।

अब अनुयोगी विषयक कहते हैं।

यहां दो अभजन करने वाले हैं, उनके बीच में प्रथम है जो भजन करने वाले करुणों को नहीं भजता है, उसका क्या फल है ?

इसमें उदाहरण, अर्जुन ने उर्वशी का भजन नहीं किया, नारद ने जरा का भजन नहीं किया। मार्कण्डेय ने वरूथिनी का भजन नहीं किया। उर्वशी ने अर्जुन की निन्दा करके शाप दे दिया, इससे अर्जुन की कृतघ्नता लक्षित होती है, इसी प्रकार नारद से भजन करने की अपेक्षा जरा ने की थी, किन्तु नारद ने जरा का भजन नहीं किया, इसीसे नारद की धूर्तता लक्षित होती है, यही बात नारद ने कही भी है कि 'मयोपदिष्टमासाद्य वव्रे नाम्ना भयं पतिम्' मेरे उपदेश को प्राप्त होकर भयनाम पति को वरती हुई, इस प्रकार नारद ने जरा को शाप दिया है, इसी प्रकार वरूथिनी ने मार्कण्डेय को जितेन्द्रिय जान करके मार्कण्डेय की अपेक्षा नहीं की, अर्थात् मार्कण्डेय के साथ भजन की आशा त्याग दी, अतः मार्कण्डेय ने वरूथिनी का भजन नहीं किया, इसलिये मार्कण्डेय में धर्म वृद्धि दर्शन से समीचीनत्व लक्षित होता है, इस प्रकार भजन नहीं करने वालों को अनेक प्रकार का फल प्राप्त हुआ, देखकर फल तथा स्वरूप विषयक संदेह होता है।

अब तृतीय प्रश्न में संदेह निरूपण करते हैं।

जो पुरुष भजने वाले, तथा भजन नहीं करने वाले, दोनों का भजन नहीं करता है, भजन करने वाले तथा भजन नहीं करने वाले, इन दोनों प्रकार के उदासीन पुरुषों का भजन करता है, उस उदासीन पुरुषों का भजन करने वाले तथा उदासीनों का भजन नहीं करने वाले दोनों प्रकार के पुरुषों को क्या फल मिलता है, इसमें भी उदाहरण बतलाते हैं कितने ही लोग सूर्य का भजन करते हैं, और कितने ही लोग सूर्य का भजन नहीं करते हैं, किन्तु सूर्य दोनों प्रकार के लोगों का भजन नहीं करता है, उक्त दोनों प्रकार के लोगों का सूर्य की तरह जो पुरुष उदासीन भजन नहीं करते हैं, अर्थात् वे पुरुष आत्माराम, तथा पूर्णकाम हैं, इसलिये उदासीन हैं, अतः भजन नहीं करते हैं, फिर इनको उदासीन सूर्य को जो फल मिलता है, वह फल आत्माराम तथा पूर्णकामों को मिलता है क्या ?

अथवा कृतघ्न आदि को जो फल मिलता है, वह फल मिलता है क्या ? इस प्रकार आत्माराम तथा पूर्णकाम के फल के सन्देह में उदाहरण कहकर अब आत्माराम तथा पूर्णकाम दोनों का भजन करने वाले तथा दोनों का भजन नहीं करने वालों का उदाहरण कहते हैं।

जो पुरुष आत्माराम तथा पूर्णकाम का भजन करते हैं, उनको जो फल धर्मात्माओं को मिलता है, वह फल मिलता है क्या ? और जो पुरुष आत्माराम पूर्णकाम का भजन नहीं करता है, उसको जो फल मूर्खों को मिलता है, वह फल मिलता है क्या ?

तृतीय प्रश्न में चार भेद का वर्णन किया है, उनमें से दो का संदेह कह दिया, अब 'अकृतज्ञ' और गुरुद्रोही, शेष दो का कहते हैं।

जो पुरुष किये गये उपकार को नहीं जानते हैं, और जो गुरुद्रोही हैं, वे भजन नहीं करते हैं, तो क्या जो फल उदासीन को मिलता है, वह फल उनको मिलता है क्या ?

अथवा जो फल धूर्त को मिलता है, वह फल मिलता है क्या ? इस प्रकार तीसरे प्रश्न में संदेह निरूपण करने से फल तथा स्वरूप विषयक संदेह का वर्णन किया है।

अब जो भजन नहीं करते हैं उनका भजन करने वालों का साधन विषयक संदेह का निरूपण करते हैं, कि 'कृतस्य साधनस्य कुत्रवाउपयोगः' भजन करने वाले के साधन का उपयोग कहां होगा ? साधन से अपूर्व उत्पन्न होगा, अथवा स्नेह उत्पन्न होगा, अथवा लोक में प्रशंसा-बड़ाई होगी। इस प्रकार साधन के उपयोग में संदेह है।

गोपियां कहती हैं कि इस प्रकार हमने जो प्रश्न-पूछा है, उस सब को आप सम्यक् प्रकार से कहो।

यहां मूल में 'भोः' यह संबोधन सावधान करने के लिये दिया है, अर्थात् हमारे प्रश्नों का उत्तर आप बहुत अच्छे प्रकार से सावधान होकर सोच समझ करके दीजिये।

अब मूल श्लोक में जो तीन पक्ष कहे हैं, उनका विवरण करते हैं। कितने ही भजन करने वाले पुरुषों के अनुसार भजन करते हैं, और कितने ही चाहे अन्य पुरुष अपना भजन नहीं करे, तो भी उसका भजन करते हैं, इस प्रकार भजन करने वाले दो प्रकार के हैं, शेष तो भजन करने वाले ही नहीं हैं ॥ १६ ॥

(सुबो०) एतेषां भेदान् फलं चाह भगवान् मिथो भजन्तीति त्रिभिः।

अब भगवान् तीन श्लोक में पूर्वोक्त तीनों पक्षों के भेद तथा फल को कहते हैं।

श्रीभगवानुवाच—

मिथो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थैकान्तोद्यमा हि ते।
न तत्र सौहृदं धर्मः स्वार्थार्थं तद्धि नान्यथा ॥ १७ ॥

पदपदार्थ—(हे सख्यः) हे सखियो। (ये) जो पुरुष (मिथः) परस्पर (भजन्ति) भजन करते हैं (ते) वे सब पुरुष (हि) निश्चय (स्वार्थैकान्तोद्यमाः) स्वार्थ में ही एकान्त फल जिसका इस प्रकार का उद्यम जिनका है, अर्थात् स्वार्थ के लिये ही उद्यम करते हैं (तत्र) परस्पर भजन करने वालों में (सौहृदं) सौहार्द (न) नहीं है (धर्मः) धर्म (न) नहीं है (हि) जिससे (तत्) परस्पर भजन करने वालों का उद्यम (स्वार्थार्थं) स्वार्थ के लिए ही है, (अन्यथा) परोपकार के लिये (न) नहीं है ॥ १७ ॥

भाषार्थ—श्री भगवान् कहते हैं कि हे सखियो ! जो पुरुष परस्पर भजन करते हैं, वे केवल स्वार्थ में ही एक फल उद्यम जिनका इस प्रकार के होते हैं, इनमें सुहृदता तथा धर्म नहीं होता है, इनकी प्रवृत्ति स्वार्थ के लिये ही होती है, परोपकार के लिये नहीं होती है ॥ १७ ॥

(सुबो०) तत्राद्यपक्षस्य निर्धारमाह। ये मिथो भजन्ति, ते स्वार्थैकान्तोद्यमाः। स्वार्थ एव एकान्तः एकं फलमुद्यमस्य। ते हि ज्ञात्वैवान्योन्यं

भजन्ते। तरतमभावेन च भजनमनुवर्तयन्ति। अतो न तेष्वन्योन्यं वञ्चनापि सम्भवति। अतः स्वार्थमेव लौकिकार्थमेव तेषामुद्यमः। ननु उभये ब्राह्मणाः, अतोऽन्येन्यभजनेन धर्मः स्नेहो वा भवेत्, कथं स्वार्थं एवेत्याशङ्क्याह-न तत्र सौहृदमिति। क्षणेनैव द्वितीयस्या भजनं ज्ञात्वा क्रोधकरणात्। अतो न सौहार्दम्। नापि धर्मः। 'सम्भोजनी नाम पिशाचभिक्षा नैषा पितॄन् गच्छति नोत देवान्। इहैव सा चरति क्षीणपुण्या शालान्तरे गौरिव नष्टवत्से'ति। गुरुसेवायामपि यदि दृष्टार्थतोभयोः, तदापि न धर्मः। शास्त्रानुसारी चेत् मिथो भजनाभावः। विद्या तु फलरूपा। सख्य इति सम्बोधनादप्रतारणा। य इति प्रसिद्धास्ते वणिज इव। स्वार्थ एव तेषां प्रवृत्तिः। यद्यपि धर्मादयोपि स्वार्था एव, तथाप्यन्योन्यभजने न ते सिध्यन्ति। तथा सौहार्दमपि, यद्यन्यमपेक्षेत। तस्य साधनस्य विनियोगमाह स्वार्थार्थमिति। अन्यार्थमपि प्रतीयमानं स्वार्थमेव। एवं सेवादिदानेष्वपि दुःखनिवृत्तिस्तत्र फलम्। अत्रार्थे सर्वोपि लोकः प्रमाणमिति हिशब्दः। अन्यथा परोपकाराय न। अन्यस्य हृदये तत्प्रतीकारार्थं चिन्ताजननात्। अतः फलं स्वार्थसिद्धिः लौकिकी। नाममात्रेणैव तेषां धर्मत्वम्, न तु वस्तुतः॥ १७॥

गोपियों ने प्रथम श्लोक में तीन पक्ष कहे हैं, उसमें प्रथम पक्ष परस्पर भजन का भगवान् निर्णय करते हैं।

जो पुरुष परस्पर भजन करते हैं, वे सब 'स्वार्थैकान्तोद्यमाः' एक स्वार्थ में उद्यम वाले हैं, यहां पर स्वार्थ में एक अन्त जिनका, इस प्रकार बहुव्रीहि समास करके, स्वार्थैकान्त में उद्यम जिनका, फिर बहुव्रीहि समास करके, स्वार्थ में ही एकान्त फल जिसका इस प्रकार का उद्यम जिनका, इस प्रकार के हैं, यह फलित अर्थ हुआ है। अर्थात् परस्पर भजन करने वाले केवल स्वार्थ के लिये ही उद्यम करते हैं. इस प्रकार के लोग परस्पर एक दूसरे के भाव को जान करके ही भजन करते हैं, और कुछ तरतम भाव से—न्यून अधिक भाव से परस्पर भजन एक दूसरे का करते रहते हैं, इसलिये इनमें परस्पर वंचन—प्रतारण की भी संभावना नहीं होती है, अतः स्वार्थ-लौकिक अर्थ के लिये ही इनका उद्यम है।

मूल में 'मिथः' शब्द कहा है, इससे अन्योन्य भजन का बोध होता है, उसमें भी दोनों को एक समय में भजन करना संभावित नहीं होता है, इसलिये आगे पीछे भजन करना आवश्यक प्रतीत होता है।

प्रथम पुरुष का उत्तरपुरुष जब भजन करता है तब उसमें पूर्वकृत भजन की तुल्यता न देख करके उत्तर पुरुष के भजन के अनुरूप ज्ञान का पूर्व पुरुष को अनुमान होता है, उसके अनन्तर पूर्व पुरुष जब फिर उत्तर पुरुष का भजन करता है, तब उसमें पूर्वकृत भजन की तुल्यता न देखने से पूर्व पुरुष को भी उत्तर पुरुष के भजन के अनुरूप ज्ञान का अनुमान होता है, इस प्रकार बारंबार करने में दोनों को अनुरूप ज्ञान का अनुमान स्पष्ट ही है, इस प्रकार तरतमभाव—न्यून

विशेष भाव की अनुवृत्ति से दोनों को स्वार्थपरता का भी स्पष्ट अनुमान है, यदि इस प्रकार नहीं मानते हैं तो फिर इस प्रकार का व्यवहार नहीं करें। अनुवृत्ति से यहां काकतालीयता निवारण की है, इस प्रकार बारंबार भजन करने में, मेरा भजन इसके भजन से अधिक है, इस प्रकार अनुसन्धान न होने से परस्पर भजन करने वाले कृतघ्न नहीं है, और परस्पर प्रतारण की संभावना न होने के कारण धूर्त भी नहीं हैं।

इस प्रकार दोष कोटि निवारण करने पर स्नेह तथा धर्म, इन दोनों में से एक की परस्पर भजन करने वालों में संभावना होने से समीचीनता संभव होती है, उसमें उपकार तो बराबर भजन करने से उपक्षीण नष्ट हो जाता है, अतः उपकार का तो संभव होता नहीं है, अतः उपकार समीचीनता का निर्वाहक नहीं है, अर्थात् उपकार से समीचीनता नहीं कह सकते हो।

अब स्नेह तथा धर्म से समीचीनत्व का आगे 'ननु' इत्यादि से शंका करके परिहार करते हैं।

यदि शंका करो कि परस्पर भजन करनेवाले दोनों ही ब्राह्मण हैं, इसलिये परस्पर भजन से धर्म, अथवा स्नेह सिद्ध होगा। फिर परस्पर भजन में आप स्वार्थ ही होता है, इस प्रकार क्यों कहते है?

इस शंका के उत्तर में भगवान् कहते हैं कि 'न तत्र सौहृदं' जो पुरुष परस्पर भजन करते है उनमें स्नेह नहीं होता है, कारण कि जब एक दूसरे का भजन नहीं करता है तब क्षण भर में ही क्रोध आ जाता है, इसलिये परस्पर भजन करनेवालों में स्नेह नहीं है, इसमें उदाहरण तो गजेन्द्रमोक्ष में अगस्त्य का प्रसङ्ग है, इन्द्रद्युम्न राजा ने अगस्त्यमुनि का सत्कार नहीं किया, तब अगस्त्य मुनि को उसी क्षण क्रोध आ गया और इन्द्रद्युम्न राजा को शाप दे दिया, इससे राजा हाथी हुआ था, फिर भगवान् का स्मरण करने से मोक्ष हो गया, यह सर्व प्रसङ्ग भागवत अष्टमस्कंध में है।

परस्पर भजन करने में धर्म भी नहीं है। आपस्तंब धर्मसूत्र में कहा है कि, 'सम्भोजनी नाम पिशाचभिक्षा नैषा पितॄन् गच्छति नोत देवान्। इहैव सा चरति क्षीणपुण्या शालान्तरे गौरिव नष्टवत्सा'।

परस्पर ब्राह्मण भोजन पिशाच भिक्षा है, यह पितरों को प्राप्त नहीं होती है, और न देवताओं को ही प्राप्त होती है, जिस प्रकार नष्ट बछड़ा वाली गाय दूसरों के घर में डोलती है, उसी प्रकार इसी लोक में क्षीण पुण्यवाली पिशाचभिक्षा भ्रमण करती है, इसलिये उक्त वाक्य से सूचित अन्य भजन में धर्म नहीं होता है, 'अन्योन्य भजन धर्म नहीं है अन्योन्य भजन होने से पिशाचभिक्षा की तरह इस प्रकार उक्त अनुमान ही धर्म में बाधक है।

यदि शंका करो कि जहां-जहां परस्पर भजन नहीं है, वहां धर्म है, इस प्रकार व्याप्ति द्वारा प्राप्ति से गुरुसेवा में व्यभिचार प्राप्त है और पिशाचभिक्षावत्, यह जो अनुमान आपने कहा है, वह असत् है, इसलिये अन्योन्य भजन—गुरुसेवा में धर्म है, इसमें बाध नहीं है।

इस प्रकार की शंका में दृष्टार्थ गुरुसेवा में भी धर्मत्व नहीं है, इस बात को कहते हैं कि (गुरुसेवायामपि)।

गुरु की शिष्य सेवा करता है, उसमें भी यदि गुरु तथा शिष्य में वृत्ति, प्रतिष्ठा आदि अर्थ देखा गया हो, अर्थात् वृत्त्यर्थ, प्रतिष्ठार्थ कारण हो तो गुरुसेवा में भी धर्म नहीं है, गुरु शिष्य

की यदि प्रशंसा करता है तो शिष्य सेवा करता है, यदि गुरु चुप-चाप रहता है तो सेवा नहीं करता है, यहां पर गुरुसेवा में जो प्रथम व्याप्ति कही है, वह व्यापार की तरह है उसका आगे प्रत्यनुमान से खण्डन करते हैं, इस प्रकार की सेवा में शास्त्र प्रयुक्तता नहीं है, इसलिये इस प्रकार की गुरुसेवा में धर्मत्व कहना अशक्यवचन होने से, 'परस्पर भजन धर्म है, परस्पर भजन करने से, गुरुसेवा की तरह, गुरुसेवावान् परस्पर भजन करने से, गुरु शिष्य दोनों में परस्पर धर्म होने से मिथो भजन धर्म है ।

यहां इस प्रकार की सेवा धर्म नहीं है, कारण इसमें दृष्टार्थता है, व्यौपार की तरह, इस प्रकार प्रत्यनुमान से पूर्व कथित अनुमान का निरास हो जाता है अतः जिस गुरुसेवा में दृष्टार्थता है, वह स्वार्थार्थ ही है, उस अन्योन्य सेवा में धर्म नहीं है ।

यदि शंका करो कि 'दृष्टार्थता' वृत्ति प्रतिष्ठा आदि प्रयोजनवती सेवा में भी शिष्य तथा गुरु को 'वसन् गुरुकुले दान्तो ब्रह्माधीयीत चाहुतः । उपनीय तु यः शिष्यम्' गुरुकुल में वास करता शिष्य इन्द्रियों को वश में करके गुरु के आज्ञानुसार वेदाध्ययन करे, शिष्य का उपनयन करके जो ब्राह्मणवेद का अध्ययन कराता है, उसको आचार्य कहते हैं, इत्यादि शास्त्रवाक्य प्रमाण के अनुसार शिष्य गुरु की सेवा करे तो शास्त्रविहित सेवा करनेवाले शिष्य को गुरुसेवा में धर्म है, विहित होने से याग की तरह इस प्रकार शास्त्रद्वारा सनाथ अनुमान से गुरुसेवा में धर्म सिद्ध होने पर प्रथम कहा 'वाणिज्य की तरह, हेतु साधारण है, इस प्रकार निश्चय होने से गुरुसेवा रूप अनुमान का बाध नहीं होता है ।

तब इस विषय में भी कहते हैं कि 'शास्त्रानुसारी चेत्' ।

यदि शिष्य शास्त्र के अनुसार सेवा करता है, तो उस सेवा में वृत्ति आदि का अभिसंधान नहीं होना चाहिये, और यदि वृत्ति प्रतिष्ठा आदि का अभिसंधान हो तो उतने अंश में शास्त्र का अभाव होने से सेवा में दम्भसे पाषण्ड आदि ही हैं, इसलिये पूर्वोक्त हेतु साधारण नहीं है और यदि सेवा में वृत्ति प्रतिष्ठा आदि का अभिसंधान नहीं है, तो शास्त्र को ही प्रयोजक होने के कारण सेवा में परस्पर भजन करना ही नहीं है, किन्तु विहितत्व ही है, शास्त्र की आज्ञा पालन करना है, इसलिये उक्त रूप से गुरुसेवा रूप व्याप्तिका भी बाध नहीं होता है, अर्थात् जहां अन्योन्य भजन है, वहां धर्म नहीं, इस व्याप्ति को गुरुसेवा में प्रथम जो बाधकत्व कहा है, उस बाधकत्व की हानि नहीं है । परस्पर अपने लिये भोजन देनेवाले ब्राह्मण के लिये जो भोजन देता है परन्तु ब्राह्मण सेवा भोजन आदि रूप से अतिशय पुण्यवती होती है, इस बात को जानकर ब्राह्मण भोजन आदि कराता है, वह तो धर्मभाग प्राप्त करता ही है, कारण कि धर्मबुद्धि से भोजन कराया है, उसमें परस्पर भजन नहीं है, अर्थात् उसमें स्वार्थैकान्तोद्यमत्व नहीं है ।

यदि कहो कि दृष्टार्थ से परस्पर भजन रूप गुरुसेवा में जो तुम धर्म साधन का अभाव कहते हो वह सङ्गत नहीं है, कारण कि विद्या रूप दृष्टार्थ का तो विधि प्रयुक्त सेवा में भी सत्व है, शिष्य सेवा करता है, सेवा करनेवाले शिष्य को गुरु विद्यादान करता है, विद्यादान करने में गुरु को पुण्य होता है, इस प्रकार सुना जाता है, किन्तु गुरु सेवा करने पर ही पढ़ाता है, इसलिये मिथो भजन में स्वार्थपरता है, इस प्रकार दृष्टार्थ का विधिप्रयुक्त सेवा में सत्व है ।

इस प्रकार की शंका में कहते हैं कि 'विद्यातु फलरूपा' गुरु सेवा करने से शिष्य को जो विद्या प्राप्त होती है वह तो फलरूप है, 'तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्' इत्यादि में जिज्ञासु आदि पदों को, 'चित्रया यजेत पशुकामः' इत्यादि श्रुति में पशुकामादि की तरह फल

बोधकता है, इसलिये इच्छाविषय विद्या को दृष्टत्व होने पर भी शास्त्र में ही प्रवेश होने के कारण धर्मत्व का अभाव साधन करनेवाले हेतु में विधि प्रयुक्त से भिन्न को ही विशेषण कहा है, इसलिये दोष नहीं है ।

इस प्रकार यहां तक इतने व्याख्यान से स्पष्ट मालूम होता है कि शास्त्र की आज्ञा से जो गुरुसेवा करता है, उसमें प्रयोजन दृष्ट हो, तो भी उसमें धर्म है, परन्तु शास्त्राज्ञा बिना अन्य कारण वृत्ति प्रतिष्ठा आदि के लिये गुरुसेवा करता है तो उस सेवा में धर्म नहीं होता है । कारण कि विद्यारूप फल प्राप्ति के लिये सेवा करने पर विद्या तो देनी ही चाहिये ।

जो जिस अर्थ के लिये प्रयत्न करता है, उसके लिये उस अर्थ का दान करने पर धर्म होता ही है, वहां मिथो भजन नहीं है ।

मूल श्लोक में (सख्यः) यह संबोधन दिया है, इसका तात्पर्य इस प्रकार है कि भगवान् गोपियों से कहते हैं कि मैं यह निर्णय जो तुमसे कह रहा हूं, वह सब ठीक ही है, इसमें तुम्हारा वंचन नहीं कर रहा हूँ, कारण कि तुम सब मेरी सखी हो, सखियों से निष्कपट व्यवहार किया जाता है ।

मूल में 'ये' पद है, इसका अर्थ लोक में अन्योन्य भजन करनेवाले पुरुष प्रसिद्ध हैं और वे पुरुष बनियाओं की तरह हैं, कारण कि बनियाओं की प्रवृत्ति किसी स्वार्थ को लेकर ही होती है ।

यदि कहो कि परस्पर भजन की निन्दा करना योग्य नहीं है, क्योंकि धर्म आदि जो चार पुरुषार्थ हैं, वे पुरुषार्थता विषय है, इसलिये शास्त्रीय होने पर भी उनमें स्वार्थता निर्बाध है, अतः स्वार्थार्थत्व से 'धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य' इत्यादि से भागवत में कहे अनुसार धर्म आदि मोक्ष पर्यवसायी हैं, इसलिये इनकी निन्दा करना योग्य नहीं है ।

इसी प्रकार 'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा' इसके संदर्भ में 'देवान्भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः । परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ' गीता. अ. ३ श्लो. १०-११ ।

प्रजापति ब्रह्मा कल्प के आदि में यज्ञ सहित प्रजाओं को रचकर बोला कि इस यज्ञ द्वारा तुम लोग वृद्धि को प्राप्त हो जाओ और यज्ञ तुम लोगों को इच्छित कामनाओं का देनेवाला होगा, तथा तुम लोग इस यज्ञ द्वारा देवताओं का भावन करो और देवता तुम लोगों का भावन करें । इस प्रकार परस्पर भावन से परम कल्याण को प्राप्त होओगे ।

इस प्रकार उक्त वाक्य से यज्ञ को परस्पर भजन सिद्ध होता है, इस प्रकार दोनों धर्मों में यथार्थता है, इनके मध्य में परस्पर भजन में किसी की निन्दा करना योग्य नहीं है, अतः परस्पर भजन में धर्म का अभाव साधन करना योग्य नहीं है, परस्पर भजन में भी धर्म होता है ।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि (यद्यपि) यद्यपि दोनों प्रकार के धर्म आदि में भी स्वार्थ ही है, तथापि परस्पर भजन से मोक्ष पर्यवसायी—मोक्ष देनेवाले धर्म आदि सिद्ध नहीं होते हैं, यहां पर लौकिक के उपयोगी स्वार्थ का अभिसन्धानपूर्वक जो परस्पर भजन है, उसकी निन्दा की है, कारण कि 'भजतोऽनुभजन्त्येके' पूर्वोक्त १६ वें श्लोक में प्रश्नवाक्य से परस्पर भजन का स्वरूप निश्चय किया है, किन्तु वहां सभी स्वार्थ का अभिसन्धान नहीं कहा है, इसलिये धर्म आदि को स्वार्थ होने पर भी दोष नहीं है ।

यदि कहो कि धर्म आदि की भी तो परस्पर भजन में सिद्धि है । तब इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि, यदि धर्म आदि की परस्पर भजन में सिद्धि मान ली जाये, तो हवि ग्रहण करने

के लिये यहां आकर फल दे रहे देवताओं को भी धर्म होना चाहिये, किन्तु फल दान करके भजन करनेवाले देवताओं को कोई भी धर्म नहीं होता है, कारण कि 'भजन्ति ये यथा देवान् देवा अपि तथैव तान् । छायेव कर्मसचिवाः साधवो दीनवत्सलाः' 'देवाः स्वार्थानसाधवः' इत्यादि वाक्यों में निन्दा दीखती है, इस प्रकार कहे संदर्भ में जो परस्पर भावन कहा है, वह भी स्वार्थ साधन करने वाला ही फलित होता है, धर्म साधन करनेवाला नहीं होता है, 'श्रेयः परमवाप्स्यथ' इस प्रकार फल कथन से और न करने पर दोष बोधन करने से 'इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञ-भाविताः । तैर्दत्ता न प्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः' इस प्रकार उक्त श्लोक में दोष बोधन से स्वार्थसाधक है,इस प्रकार ही निश्चय होता है, इसी बात को मूल सुबोधिनी में कहा है कि 'अन्योन्य-भजने न ते सिद्धचन्ति' परस्पर भजन करने से मोक्ष देनेवाले धर्म आदि पुरुषार्थ भी सिद्ध नहीं होते हैं ।

यहां पर अन्योन्य भजनेन, तृतीया विभक्ति मानें तो अर्थ इस प्रकार होता है कि परस्पर भजन करने से लौकिक के उपयोगी धर्मादि सिद्ध होते हैं, अलौकिक मोक्षपर्यवसायी धर्मादि सिद्ध नहीं होते हैं, यहां लौकिक स्वार्थ की ही निन्दा की है, अलौकिक स्वार्थ की निन्दा नहीं की है ।

पहले फल देनेवाले देवताओं को धर्म की अनुपपत्ति कह चुके हैं, इसी प्रकार 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' यहाँ पर भी जानना चाहिये । आगे 'एवं मदर्थोज्झित' इस २१ वें श्लोक की टिप्पणी में इस प्रकार के भजन को प्रवाही कहा है ।

इस प्रकार मिथो भजन में धर्म का अभावसाधन करके अब फिर शंका करते हैं कि कहीं प्रथमपुरुष द्वितीय पुरुष का भजन करता है और द्वितीय पुरुष प्रथम पुरुष का भजन नहीं करता है, तो भी प्रथम पुरुष को क्रोध नहीं होता है, तब इस प्रकार की अवस्था में सौहार्द-स्नेह सिद्ध होगा ही इसका तो आपने निषेध नहीं किया है ।

इस प्रकार के जानने की इच्छा में स्नेह के अभाव का प्रतिपादन करते हैं (तथा सौहार्दमपि) ।

जिस प्रकार परस्पर भजन में धर्म आदि सिद्ध नहीं होता है, उसी प्रकार यदि अन्य परस्पर भजन में थोड़ी भी फल की अपेक्षा आशा करता है तो क्रोध न करने पर भी स्नेह भी सिद्ध नहीं होता है, अर्थात् भोजन वस्त्र आदि देने से स्नेही की तरह आचरण करता हुआ भी यदि यह मेरा इष्टसाधन करता है, इस प्रकार की अपेक्षा से भजन करनेवाले को स्नेह सिद्ध भी नहीं होता है ।

अब परस्पर भजन करनेवाले पुरुष के साधन का विनियोग भगवान कहते हैं (स्वार्थाथम्) परस्पर भजन करने वालों का साधन अन्य के लिये ही दीखता हो, तो भी स्वार्थ के लिये ही होता है ।

इसी प्रकार अन्य से सेवा कराकर उसको धन आदि देते हैं, वह भी स्वार्थ के लिये ही है, इसमें सेवा करनेवाले का दुःख निवृत्त होना फल है, किसी को भी धर्म फल नहीं है ।

अब यहां फलित अर्थ यह है कि 'यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्'

जो सेवा करके किसी भी आशिषों की इच्छा करता है, वह भृत्य नहीं, बनिया है, यह सप्तम स्कंध में प्रह्लाद जी का वाक्य है, इस अर्थ में सभी लोक प्रमाण है, इसलिये मूल में 'हि' शब्द का प्रयोग किया है, 'अन्यथा' शब्द का अर्थ, परोपकार के लिये परस्पर भजन नहीं है, कारण कि जिस समय एक पुरुष दूसरे पुरुष का भजन करता है, उस समय दूसरे पुरुष के मन में प्रथम

पुरुष के किये भजन का प्रतीकार-बदला करने के लिये चिन्ता होती है, अतः परस्पर भजन का फल लौकिक स्वार्थसिद्धि है, केवल नाममात्र से इसको धर्म कहते हैं, वास्तव में धर्म नहीं है ॥ १७ ॥

(सुनो०) ये पुनः अभजतोऽपि भजन्ति, ते द्विविधा इत्याह—भजन्तीति ।

अब जो पुरुष पुनः भजन नहीं करने वालों का भजन करते हैं वे दो प्रकार के है, इस बात को आगे श्लोक में कहते हैं ।

भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरौ यथा ।
धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदं च सुमध्यमाः ॥ १८ ॥

पदपदार्थ—(हे सुमध्यमाः) हे सुन्दर कटिवाली गोपियो (ये) जो पुरुष (अभजतः) भजन नहीं करने वालों का (भजन्ति) भजन करते हैं, (ते) वे पुरुष (वै) प्रसिद्ध (करुणाः) दयालु लोग, तथा (पितरौ) माता पिता हैं, (यथा) जैसे माता पिता तैसे ही भ्राता आदि, कभी संसारी पुरुष भी दोनों का भजन करते हैं और स्निग्ध की तरह हो जाते हैं (अत्र) यहां प्रथम में (निरपवादः) अपवाद-निन्दा रहित (धर्मः) धर्म है, (च) और द्वितीय में (सौहृदं) स्नेह है ॥ १८ ॥

भाषार्थ—हे सुन्दर कटिवाली गोपियो, जो लोग भजन नहीं करने वालों का भजन करते हैं, वे करुण-दयालु लोग तथा माता पिता हैं यहां पहले में निरपवाद धर्म है तथा दूसरे में दैहिक सम्बन्ध से स्नेह है ॥ १८ ॥

(सुबो०) ये अभजतोऽपि तूष्णींस्थितान् भजन्ति तत्र निमित्तद्वयम्, लौकिकं वैदिकं वा, स्नेहो विधिश्च । तत्र सौहार्दं धर्मश्च फलं क्रमेणैव । यः पूर्वः तस्य सौहार्दे अवसरे कर्तव्य एवोपकारः । अन्यथा कृतघ्नः स्यात् । धर्मशेषश्चेत्, प्रायश्चित्तं विधेयम् । तदीय एव धर्मः तद्द्वारा तेषु गच्छतीति । तत्र धर्मे यत्र कर्म प्रधानम्, यत्र का देवता, तदुभयं न विवक्षितम् । प्रतियोगिनि भजनशङ्काभावात् । यत्र वा असमानता, गोः पङ्क्तोद्धारणवत्, तत्रापि तथा । यत्र पुनराधारे प्रत्युपकारः सम्भवति, तत्र प्रवृत्तौ, पूर्वस्याभजने, उत्तरभजने निरपवादोधर्मः, सौहृदं च फलम् । अधिकारिविशेषणं तु एकत्र करुणा, अपरत्र दैहिकः सम्बन्धः । तदाह—करुणाः पितराविति । अन्यत्रापि दृश्यते इति तद्धर्मातिदेशमाह—यथेति । ये संसारिणः क्रूराः, तेऽपि कदाचिद्दीनेषु भजनं कुर्वन्ति, स्निग्धा इव च भवन्ति । तेषां सङ्ग्रहार्थं यथेति । सम्बन्धस्तु जन्मान्तरीयोऽपि भवतीति उपमानोपमेययोरभेदादेकत्रिधा एव । निरपवाद इति । एतदुपकारेण हि तस्यापवादः । तदभावान्निरपवाद एव । अत्र तादृशेऽर्थे । अनेन यत्र प्रत्युपकारसम्भावनापि न, तत्र धर्म इति सूचितम् । अत एव केचित् क्रियमाणमपि नाङ्गीकुर्वन्ति ।

सौहार्देऽपि धर्मोस्तीति चकारः। सुमध्यमा इति सम्बोधनमुक्तविश्वासाय। धर्मेणैव उत्तममध्यमता ॥ १८ ॥

जो लोग भजन नहीं करनेवाले चुपचाप बैठे पुरुषों को भजते हैं, उसमें दो निमित्त-कारण हैं, (१) लौकिक, (२) दूसरा वैदिक, लौकिक कारण स्नेह है और वैदिक कारण विधि है, इसमें लौकिक स्नेह का फल सौहार्द है और वैदिक विधि का फल धर्म है, इस प्रकार क्रम से सौहार्द तथा धर्म फल है।

जो पुरुष प्रथम सौहार्द से भजन करनेवाला है, उसके ऊपर जब सौहार्द का—(अर्थात् पुत्र आदि में सामर्थ्य प्राप्त होनेपर) अवसर प्राप्त हो, तब द्वितीय पुरुष जो भजन करने वाला नहीं उसको प्रथम का भजन करके उपकार करना कर्तव्य है, किन्तु द्वितीय पुरुष-पुत्रादि उसका उपकार नहीं करते हैं, इसलिये प्रथम पुरुष में सौहार्द निरपवाद-अपवाद रहित है और द्वितीय पुरुष में कृतघ्न है।

यदि प्रथम पुरुष द्वितीयपुरुष का धर्मार्थ भजन करे तो द्वितीय पुरुष को प्रायश्चित करना चाहिये, अर्थात् भजनीय से भजन करने योग्य से प्रायश्चित्त करना चाहिये। और यदि द्वितीय पुरुष भजनीय से प्रायश्चित्त नहीं करता है, तो प्रथम पुरुष में निरपवाद धर्म है और द्वितीय पुरुष कृतघ्न है।

धर्मार्थ भजन करनेवाले में धर्म ही मुख्य है, इसलिये द्वितीय पुरुष, जिसका भजन प्रथम पुरुष करता है, वह भजनीय है भजन करने योग्य धर्म का शेष-अङ्ग है, इसलिये भजन करनेवाले को पातक की संभावना होती है, किन्तु वास्तव में निरपवाद धर्म में पातक आदि की संभावना नहीं है, सापवाद धर्म में पातक की संभावना होती है, अतः लौकिक अनिष्ट की संभावना हो तो जिसका भजन प्रथम पुरुष करता है, उस द्वितीय पुरुष को कृतघ्नता दोष दूर करने के लिये पाप आदि का निवारण करना ही चाहिये, कामसूत्र में कहा है कि—

'श्रोत्रियस्य ब्रह्मचारिणो दीक्षितस्य व्रतिनो लिङ्गिनो वामां दृष्ट्वा जातरागस्य मुमुषोंर्मित्र-वाक्यादानृशंस्याच्च गमनं धर्मोऽधर्मो वेति संशयः' श्रोत्रिय-वेदपाठी, ब्रह्मचारी, दीक्षित, व्रती अथवा लिङ्गी (भक्तिमार्गीय आदि भी लिङ्गी होते हैं) पूर्वोक्त किसी को भी स्त्री देखकर राग उत्पन्न हो जाये, और उस स्त्री को ज्ञात हो जाये कि इसकी मुझमें आसक्ति है, और मेरे ऊपर यह मरने को तैयार है, तब इस प्रकार की अवस्था में उसके ऊपर स्त्री को दया आ जाये, और मित्र वाक्य से—किसी भी अपने मित्र के वाक्य से अथवा जिसमें उक्त ब्रह्मचारी आदि की आसक्ति है, उसी मित्र स्त्री के वाक्य से, पूर्वोक्त ब्रह्मचारी आदि का समागम लज्जात्याग कर करे तो उस स्त्री को धर्म होता है, अथवा अधर्म होता है, इस प्रकार संशय होता है।

इसका निर्णय कामसूत्र में उसी स्थल पर कहा है कि इस प्रकार की परिस्थिति में जिस स्त्री ने जिस पुरुष का भजन किया है, वह पुरुष स्त्री का पाप निवारण करने के लिये स्वयं प्रायश्चित्त आदि करे, कारण कि सापवाद भजन किया है, इसमें उदाहरण पद्मपुराण वैशाख माहात्म्य के प्रथम अध्याय में चित्रा का उपाख्यान है, उसका सारांश इस प्रकार है कि एक वैश्य जाति की वेश्या ने (जो पांच पुरुषों का सङ्ग करती है वह वेश्या प्रायः हो जाती है) अदृष्ट बुद्धि से अर्थात् मेरा दोष यह नाश करेगा, इस बुद्धि से भोग के विविध उपचारों द्वारा तीर्थाटन करते आये एक सुदेव नाम के ब्राह्मण अतिथि का संसेवन किया, उक्त अतिथि ने 'रेवा' नदी में

वैशाखस्नान करने का उपदेश दिया, और उस वेश्या के साथ रेवानदी में स्नान करता कराता, दया के कारण उस वेश्या के उपरोध-आग्रह से रेवा नर्मदा तट पर रहता हुआ, फिर उस वेश्या का तथा अपना उद्धार करके दूसरे जन्म में वह सुदेव ब्राह्मण स्वयं पांड्यदेश का राजा वीरसेन हुआ, और वह वेश्या दूसरे जन्म में परम वैष्णव दिवोदास काशी के राजा की पुत्री दिव्या देवी नाम की हुई। उदाहरण से स्पष्ट हो गया कि धर्मार्थ भजन में प्रायश्चित्त करना चाहिये।

यदि कहो कि 'धर्मेण पापमपनुदति' धर्म करने से पाप को दूर करता है, इस श्रुति के अनुसार पुण्य से पाप निवृत्त हो जाता है।

उक्त श्रुति में कर्ता का ऐक्य विवक्षित है, नहीं तो अतिप्रसङ्ग हो जायेगा, इसलिये पाप-निवृत्ति में भजनीय का कोई उपयोग नहीं है।

इस शंका की निवृत्ति में कहते हैं कि (तदीय एव धर्मः) जिसका भजन प्रथम पुरुष करता है, उस द्वितीय पुरुष का धर्म, द्वितीय पुरुष के द्वारा प्रथम पुरुष भजन करने वाले में जाता है, अर्थात् धर्म शेषीय ही धर्मभजन द्वारा भक्तों में जाता है, 'पतिं त्व पतितं भजेत्' जो पति पतित नहीं है, उसका भजन करे, इत्यादि स्मृति में पति का अपतित, विशेषण कहने से जिसका भजन करते हैं, उसका धर्म भजन करने वालों में आता है, इस प्रकार ज्ञात होता है।

यदि स्वयं पति पतित नहीं है, तो भजन करने वाले का पाप निवृत्त करने में समर्थ होता है, और यदि पति स्वयं ही पतित है तो अन्य भजन करने वाले का पाप निवृत्त करने में समर्थ नहीं होता है।

यदि कहो कि विहित होने के कारण धर्म के लिये जो भजता है, उसके भजन से अपूर्व ही धर्म से भजन करने वाले को भजन से उत्पन्न होता है।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि पापनिवृत्ति रूप फल का साधन करने से, उसके भजन विधान में (भजन करने वाले का भजन करने में भजनीय) जो भजन करने योग्य है, उसमें स्थित प्रायश्चित्त रूप धर्मत्व को ही प्रयोजकत्व है, कारण कि 'तेजस्कामोऽग्निमेव तेजस्वन्तं स्वेन भागधेयेनोपधावति' जिसकी तेज प्राप्त करने की इच्छा हो, वह तेजवान् अग्नि का ही अपने भागधेय से सेवन करता है, इत्यादि श्रुतियों से पूर्व में कहा ही निर्णय किया है, यदि जिसका भजन करते हैं, उसका धर्म भजन करने वाले भक्त में नहीं आता होता तो उक्त श्रुति में 'तेजस्वन्तं' तेजवान्, इस प्रकार नहीं कहते। अतः भजनीय के किये हुए भजन से उसका धर्म पूर्व भजन करने वालों में आता है।

इसमें अमूर्तत्व भी बाधक नहीं है, कारण कि अलौकिक अर्थ का निर्णय लोकरीति से करना योग्य नहीं है, 'अलौकिकास्तु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्' जो भाव अलौकिक हैं, उनका निर्णय तर्क से नहीं होता हैं, इस प्रकार श्रुति प्रतिपादन करती है तथा पूर्वोक्त सब बात जातेष्टि, गयाश्राद्ध, पुण्य, दान आदि शास्त्रों से भी सिद्ध हो रही है।

यहां भजन करने वाले का जो भजन नहीं करता है, उसके भजन रूप धर्म का निर्णय भगवान् कर रहे हैं, वह भजन रूप धर्म क्या है, इसका निष्कर्ष भगवान् कहते हैं कि निषेध प्राप्तिपूर्वक होता है, इस नियम से यहां पर अपवाद-लोकवाद, लोकनिन्दा का निषेध किया है, जिसमें भजन का बाध होता है, इसलिये जहां धर्म में अपवाद की संभावना हो, वही धर्म यहां ग्रहण किया है, और जहां धर्म में अपवाद की संभावना नहीं हो वह धर्म यहां विवक्षित नहीं है, इस आशय से कहते हैं कि 'तत्र धर्मे यत्र कर्म प्रधानम्' उस धर्म में कहां कर्म प्रधान है, 'कार्य-

मित्येव यत्कर्म' 'एतान्यपि तु कर्माणि' जो कर्म कर्तव्य है, इस प्रकार समझकर शास्त्रविधि से नियत किया हुआ आसक्ति तथा फल त्याग कर किया जाता है, वह सात्त्विक माना गया है, इस लिये हे पार्थ, यज्ञ, दान तथा तप रूप कर्म आदि आसक्ति तथा फल का त्याग कर अवश्य करना चाहिये, यह मेरा निश्चय किया उत्तम मत है, इत्यादि वाक्यों से जहां नित्य कर्म कर्तव्यबुद्धि से किया जाता है, वहां कर्म प्रधान है, और जहां देवता की आराधना से ही धर्म है, वहां वह देवता ही प्रधान है, इन दोनों प्रकार के धर्मों का यहां विवेचन नहीं करना है।

यदि कहो कि कर्ममार्ग में कहे हुए कर्म, देवता, गवादि में क्रम से जडत्व, स्वर्गवासित्व और अज्ञत्व आदि होने से धर्म उत्पन्न होता ही नहीं है, इसलिये गवादि प्रतियोगी में तो भजन की शंका का अभाव है, इसलिये उस धर्म की विवक्षा नहीं है, यह कहना ठीक नहीं है, कारण कि भगवान् निर्णय कर रहे हैं, निर्णय संदिग्ध विषय का करना उचित है, उक्त कर्म आदि में नित्य कर्म करने वाले, तथा देवता की आराधना करने वाले इन दोनों के भजन में तो कोई शंका ही नहीं है, इसलिये विवक्षा भी नहीं है। किन्तु जहां भजन करने वाला और जिसका भजन किया जाता है, यदि ये दोनों समान न हों, (जिस प्रकार किसी ने कीचड़ में फँसी हुई गाय निकाली, यहां पर भजन करने वाला, गाय निकालने वाला तथा जिसका भजन किया, इस प्रकार की गाय दोनों समान नहीं हैं।)

इस प्रकार के गवादि धर्म का भी यहां विवेचन नहीं करते हैं।

कर्म मार्ग में कहे बहुला व्याघ्र संवाद आदि से तथा इन्द्र आदि की अश्वमेधकथा आदि से निमित्तवश से भी वहां धर्म की उत्पत्ति अवगत होती है, इसलिये गवादिकों में अज्ञत्वादि से धर्म का अभाव अविवक्षित नहीं है किन्तु प्रतियोगी में भजन शंका के अभाव से अविवक्षितत्व है, अतः विवेचन नहीं करते हैं, किन्तु जहां फिर आधार ऊपर, प्रथम भजन करने वाले के ऊपर भजनीय में' प्रत्युपकार सामर्थ्य विद्यमान होने पर प्रत्युपकार करना संभव होता है, वहां प्रवृत्ति में, उसके भजन करने में प्रथम पुरुष भजन न करे, और दूसरा पुरुष भजन नहीं करने वाले का भजन करे तो निरपवाद किये भजन का बाधरहित धर्मफल सिद्ध होता है, तथा सौहृद-स्नेहफल सिद्ध होता है, निरपवाद धर्म का उदाहरण महाभारत के अनुशासन पर्व के दूसरे अध्याय में सुदर्शन का उपाख्यान है।

सुदर्शन की स्त्री ओघवती अपने पति के गृहस्थ धर्म की रक्षा करती हुई, जिस समय सुदर्शन समिधा लेने गया, उस समय अपनी ओघवती से कह गया था कि अतिथि के प्रतिकूल कर्म मत करना, इस प्रकार कहकर समिधा लेने स्वयं बाहर गया, और स्त्री घर में रही थी, उसी समय एक ब्राह्मण अतिथि सुदर्शन के घर पर आया, और उसने ओघवती से कहा कि मेरी इच्छा तेरे साथ समागम करने की है, ओघवती ने पति के आज्ञानुसार इस अतिथि की इच्छा पूरी की, सुदर्शन समिधा लेकर घर आया, अतिथि ने सुदर्शन से सब हाल कहा, सुदर्शन ने शांति-पूर्वक उत्तर दिया कि आज हमारे गृहस्थाश्रम धर्म का पालन यथावत् हुआ, कारण कि हमारे घर अतिथि का यथेच्छ सत्कार हुआ है, इस बात को सुनकर यह अतिथि पर्णशाला से बाहर गया, और अपना वास्तविक धर्मस्वरूप प्रकट करके ओघवती की अत्यन्त प्रशंसा करने लगा— अनन्तर सुदर्शन ने भी ओघवती को पवित्र बतलाया, "एषा हि तपसा स्वेन संवृत्ता ब्रह्मचारिणी। पावनार्थं च लोकस्य सरिच्छ्रेष्ठा भविष्यति॥ अर्द्धेनौघवती नाम त्वार्धमनोपयास्यति। यत्र नावृत्ति-मभ्येति शाश्वतांस्तान् सनातनान्॥ अनेनैव तु देहेन लोकांस्त्वमभिपत्स्यसे॥" यह ओघवती ब्रह्मचारिणी

अपने तप से युक्त जगत् को पवित्र करने के लिये श्रेष्ठ नदी होगी, इसका एक भाग-आधा ओघवती नाम नदी और दूसरे आधे भाग से तुम्हारी सेवा करेगी, इसमें प्राप्त पुरुष इसके द्वारा फिर इस लोक में नहीं प्राप्त होता है, इस प्रकार के शाश्वत नित्य सनातन लोकों को तुम इसी देह से प्राप्त हो जाओगे, फिर अन्त में कहा है कि 'धन्यं यशस्यमायुष्यमिदमाख्यानमुत्तमम्' इस प्रकार भीष्मपितामह ने इस आख्यान के श्रवण-कथन का फल कहा है।

यदि कहो कि इस प्रकार संभावित अपवाद जिसमें हो, उस प्रकार का भी भजन नहीं करने वाले का भजन हो तो निरपवाद धर्मरूप भजन में सर्व लोग प्रवृत्त हो जायेंगे, तो फिर मर्यादा भङ्ग हो जायेगी।

इस शंका के समाधान में, इस प्रकार के भजन में अधिकारी कौन है, इस बात को कहते हैं। (अधिकारिविशेषणं तु)।

एक में दया, (दया भी अति तेजस्वी पुरुष में करनी चाहिये, जिस प्रकार ओघवती ने की थी,) सर्वत्र नहीं, इसलिये मर्यादा भङ्ग नहीं होती है, दूसरे में दैहिक सम्बन्ध है, (पुत्रादिकों में स्नेह करना चाहिये) अर्थात् धर्म फल देने वाले भजन में भजन करने वाले पुरुषों में दया होती है, तथा सौहृद-प्रेम फल देने वाले भजन में भजन करने वाले पुरुष में देह का संबंध होता है, वहां श्लोक का अन्वयार्थ इस प्रकार करना चाहिये कि जो दयालु माता-पिता नहीं भजन करने वाले पुत्रादि का भजन निश्चय से करते हैं, तो धर्म निरपवाद है, निश्चय से भजन प्रत्युपकार रहित जानना चाहिये, इस बात को आगे कहते हैं, (करुणाः पितरौ) दयालु तथा माता-पिता, इस प्रकार निरपवाद धर्म को कहकर अब सापवाद धर्म कहते हैं कि जिन प्राणियों में स्वाभाविक दया तथा स्नेह नहीं होता है, उनमें भी भजन नहीं करने वाले का भजन करना दीखता है, इसलिये दया तथा स्नेह का अतिदेश कहते हैं (यथा) अर्थात् स्वाभाविक कारण रहित पुरुषों के धर्मों को दृष्टान्त के लिये कहते हैं।

अतिदेश का प्रयोजन कहते हैं कि जो संसारी क्रूर प्राणी हैं, वे भी कभी माता-पिता की तरह दीनों पर दया करके उनका भजन करते हैं, और स्निग्ध की तरह स्नेह करते हैं, इस प्रकार के प्राणियों का संग्रह करने के लिये मूल श्लोक में 'यथा' शब्द का प्रयोग किया है।

यदि दृष्टान्त दार्ष्टान्त एकप्रकार के होते हैं, इस प्रकार का नियम है फिर सापवाद और निरपवाद भजन करने वाले एक प्रकार के कैसे होते हैं—और कैसे दृष्टान्त दार्ष्टान्त में एकप्रकारता है।

और इसके उत्तर में यदि तुम यह कहो कि राजधर्म में 'सहार्थौ भजमानस्य सहजः कृत्रिमस्तथा, धर्मात्मा पञ्चमो मित्रम्' साथ ही अर्थ का भजन करने वाला सहज अथवा कृत्रिम हो तो उस धर्मात्मा को पांचवां मित्र कहते हैं, इत्यादि वाक्य से पांच प्रकार के मित्रों में सहज भजन करने वाला निरुपधि कहा है, इसलिये दोनों के भाव भेद से स्नेह में भी भेद है, अतः यहां दृष्टान्त क्यों दिया है।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'सम्बन्धस्तु'।

हाल में किसी का स्नेह हो तो उससे पूर्व जन्म के संबंध का अनुमान होता है, इसलिये सामान्य रीति से 'यथा' कहा है।

जिस प्रकार माता-पिता स्नेह करते हैं, उसी प्रकार भ्राता आदि भी स्नेह करते हैं,

सम्बन्ध तो जन्मान्तरीय भी, अन्य जन्म का भी होता है, इसलिये करुणा देखने से ही उपमान, उपमेय दोनों में अभेद होने के कारण उदाहरण एक प्रकार का ही दिया है।

यद्यपि कर्मगति गहन है, सम्बन्ध से ही माता-पिता भाई-बहिन आदि में भाव का भेद होता है, तथापि भावभेद में ही इन सबका स्नेह निरुपाधि है, इसलिये एक प्रकार का है, अतः मूल में एक दृष्टान्त दिया है, इससे यह सूचन किया कि स्नेह से भजन में जन्मान्तरीय सम्बन्ध ही प्रयोजक है, इसलिये इसमें धर्म की सम्भावना नहीं है।

मूल श्लोक में निरपवाद धर्म कहा है, भजन करने वाले के ऊपर, भजन नहीं करने वाला प्रत्युपकार करे तो उस भजन को सापवाद कहते हैं, अर्थात् प्रत्युपकार से प्रथम ने जो भजन किया है, उसका बाधनाम अपवाद हो जाता है। और इस प्रकार पूर्व के भजन का प्रत्युपकार नहीं करे तो धर्म निरपवाद ही है, इससे यह भी सूचन किया है कि स्नेह से भजन करने में पूर्व सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता है। इसलिये अपवाद का भी संभव होता है।

मूल में 'अत्र' पद तादृश अर्थ में है, अर्थात् जहां प्रत्युपकार रहित भजन है, वहां निरपवाद धर्म है।

इस प्रकार व्याख्यान करके अब धर्म स्थल का निष्कर्ष कहते हैं, (अनेन) इससे इस प्रकार सूचन किया है कि जहां प्रत्युपकार की सम्भावना भी नहीं होती है, वहां धर्म है, इसी कारण से कितने ही लोग किये गये प्रत्युपकार को परस्पर भजन के भय से स्वीकार नहीं करते हैं, इसीसे 'ब्राह्मणस्य कामपरवशस्य प्राणत्राणार्थं गमनधर्मो निरनुबन्धः' ब्राह्मण कामपरवश वालों के प्राणों की रक्षा करने के लिये गमन करने में धर्म बन्धन नहीं है, इस प्रकार कामसूत्र आदि में कहा है कि सजातीय स्थल में धर्मानुबन्ध तथा धर्म स्थल में, पत्नी में धर्म कहा है, उसी प्रकार 'तस्यैव लोक विद्विष्टस्य मायाविनो वा तथाभूतस्यैव शरीररक्षार्थं गमनं धर्मोऽधर्मानुबन्धः।"

ब्राह्मण, लोकद्वेषी तथा मायावी कामपरवश को शरीररक्षा के लिये गमन धर्म, अधर्म का अनुबन्ध कहा है, इस प्रकार कामसूत्र से कहे स्थल में भी अधर्म के अनुबन्ध को बलिष्ठ होने के कारण श्येन की तरह जिस प्रकार श्येन बाज पक्षी, छल से तथा धमका करके गमन करता है, उसी तरह छल से तथा धर्षणा-धमका करके गमन करता है तो अधर्म ही होता है, यह भाव है।

मूल श्लोक का चकार सूचन करता है कि सौहार्द–स्नेह में भी धर्म है, कारण कि स्नेह में भी दया का लेश अंश होता है।

अपने वाक्यों में विश्वास दिलाने के लिये भगवान् गोपियों को संबोधन देते हैं कि (हे सुमध्यमाः) हे सुन्दर कटिवालियो। धर्म से ही उत्तमता तथा मध्यमता होती है, अर्थात् अपनी अपेक्षा से उत्तम जो भजन नहीं करने वाले हैं, उन पुरुषों का जो लोग भजन करते हैं, वे उत्तम हैं, और अपनी अपेक्षा से मध्यम पुरुषों का जो भजन करते हैं, वे लोग मध्यम हैं, इस प्रकार धर्मकृत ही उत्तम मध्यम भाव भजन करने वालों में अन्योन्य है'।

मध्यमाधिकारियों को भी कहे हुए धर्म में विश्वास होता है, हीनाधिकारियों को नहीं होता है, इसलिये आप सबको इस समय मेरे प्रति भजन की अपेक्षा है, अतः मध्यमाधिकार प्राप्त हुआ है, फिर भी मेरे कहे में विश्वास होगा तो आगे उत्तमाधिकार प्राप्त हो जायेगा ॥१८॥

(सुबो०) ये तु पुनः सर्वथैव न भजन्ति, भजनार्थं भजतः, सौहृदेन वा भजतः। धर्मार्थे तु न शङ्का। तानुभयविधानपि केचिन्न भजन्ति। अभजतो दीनान् धर्माधिकारिणश्च। तानपि न भजन्ति। तेषां स्वरूपमाह भजतोऽपीति।

जो कोई सर्वथा ही भजन नहीं करते हैं और जो कोई भजन के लिये भजन करनेवाले, अर्थात् मिथो भजन करनेवाले तथा स्नेह से भजन करनेवाले, धर्म से भजन करनेवाले, इस प्रकार भजन करनेवाले तीन प्रकार के हुए, इनमें धर्म के लिये जो भजन करते हैं, उनमें तो किसी प्रकार की शंका ही नहीं है।

अर्थात् जो करुण हैं, वे आत्माराम, पूर्णकाम का धर्मार्थ भजन करते हैं, उनके भजन मात्र से धर्म सिद्ध होता है, इसलिये प्रायश्चित्त करने की शंका उनमें नहीं होती है।

और जो स्नेह से भजन करनेवाले हैं, उनमें अवसर प्राप्त होने पर कृतघ्नता दोष परिहार करने के लिये प्रत्युपकार करना आवश्यक प्रतीत होने के कारण शङ्का का सत्त्व है, किसी धर्मार्थ भजन में कृतघ्नतादोष रूप भजन करनेवाले पुरुष को कृतघ्नता दोष दूर करने के लिये प्रायश्चित्त क्रियामात्र से चरितार्थ है, इसमें प्रायश्चित्त करने की शंका नहीं है।

आत्माराम तथा आप्तकाम, इनका प्रायश्चित्त नाम पापनिवृत्त रूप जो स्वाभाविकी क्रिया है, उस क्रिया मात्र से प्रायश्चित्त की चरितार्थता है, अर्थात् उस क्रिया से ही प्रायश्चित्त हो जाता है, इसलिये भजन करने वालों को फलसिद्धि हो जाती है, अतः कृतघ्नता दोष परिहार के लिये पृथक् पायश्चित्त करने की स्नेह से भजन करने वालों में शंका होती है, आत्माराम और आप्तकाम में नहीं होती है। इसलिये इनके विषय में उत्तर देने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु पहले दो प्रकार के पुरुष—भजन के लिये भजन करनेवाले तथा स्नेह से भजन करनेवाले, पुरुषों को कितने ही पुरुष भजन नहीं करते हैं, अर्थात् जिनके भजन करने से भजन करने वालों में दया सिद्ध होती है, इस प्रकार के दीनों का, तथा धर्म संपादन करने में समर्थ, जिनके भजन से धर्म सिद्ध होता है, इस प्रकार के धर्म के अधिकारियों का भी जो भजन नहीं करते हैं, उनका स्वरूप कहते हैं।

भजतोऽपि न वै केचिद् भजन्त्यभजतः कुतः।
आत्मारामा ह्याप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः ॥ १९ ॥

पदपदार्थ—(केचित्) कितने ही लोग (भजतोऽपि) भजन करनेवाले को भी (न वै) नहीं (भजन्ति) भजते हैं (अभजतः) नहीं भजन करनेवाले को (कुतः) किस प्रकार से भजन करे, अर्थात् नहीं इस प्रकार के (आत्मारामाः) आत्मा में ही रमण करनेवाले हैं और (आप्तकामाः) प्राप्त काम वाले (अकृतज्ञाः) किये हुए उपकार को नहीं जानने वाले (गुरुद्रुहः) गुरुद्रोही, इस प्रकार चार प्रकार के हैं ॥ १९ ॥

भाषार्थ—कितने ही लोग भजन करने वालों का भजन नहीं करते हैं, तो फिर जो भजन नहीं करते हैं उनका भजन कैसे करे, इस प्रकार के लोग आत्माराम, आप्तकाम, अकृतज्ञ-कृतघ्न, गुरुद्रोही, चार प्रकार के हैं ॥ १९ ॥

(सुबो०) केचिन्महापुरुषा भजतोऽपि न भजन्ति, अभजतः कुतो भजिष्यन्ति। ते पूर्वोक्तन्यायेन चतुर्विधाः। तन्मध्ये उभये समीचीनाः। उभये न। ये धर्माधिकारिणस्ते अधमाः। ये लौकिकनिमित्तास्ते उत्तमा इति। तान् गणयति साङ्कर्यामावाय। आत्मारामा इति। आत्मन्येव रमन्त इति। अन्येन भजनीयो देहादिर्नापेक्षित इति भजनमेव न मन्यन्ते। तेषां भजनार्थं च साधनत्वेन स्वदेहादिकमपि न मन्यन्ते। तथा अन्ये आप्तकामाः। आप्तः प्राप्तः कामो यैः। यो भुक्तवन्तं ब्रूयात्, त्वं भुङ्क्ष्व, मा भुङ्क्ष्वेति वा। एकत्र आवृत्तिः। अपरत्र सिद्धसाधनत्वेनानुवादः। उभयथापि वैयर्थ्यम्। प्रवर्तमानस्य धर्मः सेत्स्यति। अज्ञानं वा। उभये तु अधमा इत्याह। ये कृतं न जानन्ति तदुपकारं, ते प्रत्युपकारसमर्था अपि उभयविधानपि न भजन्ति। तेषामज्ञानमेव हेतुरभजने ज्ञात्वा चेदभजनं, गुरुद्रोहः। यः कश्चित् स्वस्य पुरुषार्थसाधकः स गुरुः, स पूज्यः। तस्यापि स्वशक्तौ सत्यां तदुपेक्षायां तद्द्रोहः अनेनैव कृत इति गुरुद्रोहकर्ता भवति। एवं सर्वेषां गुणदोषा निरूपिताः॥ १९॥

कितने ही महापुरुष भजन करनेवाले का भजन नहीं करते हैं, तो फिर जो भजन नहीं करते हैं, दीन धर्माधिकारी के प्रति भजन करने में असमर्थ तथा समर्थ हैं, उनका भजन कैसे करे।

ये पूर्वोक्त न्याय से अर्थात् 'नोभयांश्च भजन्त्यन्ये' इसमें कहा भजन करनेवाले और भजन नहीं करनेवाले, उक्त न्याय से चार प्रकार के हैं, इनके बीच में दो समीचीन-अच्छे हैं और दो समीचीन नहीं हैं।

जो दया में तथा धर्म में अधिकारी—समर्थ हैं, अर्थात् दोनों को साधन करनेवाले हैं, उनको जो नहीं भजते हैं, वे अधम हैं, इस प्रकार यहां लेखकार ने 'दयाधर्माधिकारिणः' पाठ स्वीकार किया है, उसके अनुसार अर्थ कहा है, किन्तु श्री विट्ठलराय जी के पुस्तक में 'दया' शब्द नहीं है, इसलिये श्रीपुरुषोत्तम जी ने प्रकाश में 'ये दयाधर्म' इसमें 'अदया छेत्तव्यम्' अदया पद का छेद करना चाहिये, इस प्रकार कहा है, इसमें कारण बतलाते हैं कि ('ये कृतं न जानन्ति तदुपकारं) जो उसके किये उपकार को नहीं जानते हैं, इत्यादि अग्रिम ग्रंथस्वारस्य से, अतः जो दया धर्म में अधिकारी नहीं हैं, अर्थात् दोनों के साधक नहीं हैं, वे अधम हैं, जो धर्मार्थ भजन करने वालों में धर्म संपादन करने के लिये अधिकारी समर्थ हैं, उनको जो नहीं भजते हैं, वे अधम अकृतज्ञ आदि दोषवान् हैं। इनको आगे कहेंगे और जिनका लौकिक स्नेह आदि निमित्त भजन में है, वे लौकिक निमित्त वाले हैं, जो लोग स्नेह आदि लौकिक निमित्त, से ही भजन करते हैं, उनका जो भजन नहीं करते हैं, वे उत्तम हैं, इनको ही आगे आत्माराम धर्मवान् कहेंगे।

अब इन चार प्रकार के पुरुषों की गणना करते हैं, आत्माराम आदि चार धर्मों को पृथक् करने के लिये, जिससे साङ्कर्य न हो, अर्थात् एक में एक के धर्म मिले हुओं का ज्ञान नहीं हो, इसलिये गणना करते हैं, (१) प्रथम (आत्मारामाः) आत्मा में ही रमण करते हैं, इसलिये आत्माराम हैं।

यदि शंका करो कि उक्त लौकिक निमित्त से जो भजन करने वालों का भजन नहीं करते हैं, उनको उत्तम कैसे बतलाते हो।

इस शंका का उत्तर देते आत्मारामादि पदका तात्पर्य कहते हैं कि अन्यद्वारा भजन करने योग्य जो देह आदि हैं, उनको आत्मा से भिन्न मानते हैं, इसलिये देहादि की आत्माराम को अपेक्षा नहीं होती है, इसलिये ये लोग अन्यकृत भजन को ही नहीं मानते हैं और न भजन करने वालों का भजन करने के लिये साधनत्व से अपने देह आदि को भी मानते हैं।

अब द्वितीय भजन नहीं करने वाले (आप्तकामाः) आप्तकाम हैं, आप्त-अर्थात् प्राप्त काम जिनसे, उनको आप्तकाम कहते हैं, 'काममयोऽयं पुरुषः, पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा स परा गतिः' इत्यादि श्रुति में कहे प्राप्तकाम भक्त हैं, वे भी अन्यका भजन नहीं करते हैं।

कोई पुरुष भोजन कर चुका हो, उससे अन्यपुरुष कहे कि तुम भोजन करो, अथवा भोजन मत करो।

यहां प्रथम पक्षमें अप्रवृत्ति है, अर्थात् भोजन किया हुआ पुरुष कभी भोजन करने में प्रवृत्त नहीं होगा।

दूसरे पक्ष में-भोजन मत करो, इसमें भोजन किये हुएका अनुवाद है, कारण कि जिसने भोजन कर लिया है, उसको भोजन करनेकी इच्छा तो रही नहीं है, फिर भोजन क्या करेगा, अर्थात् नहीं, इसलिये भोजनका अभाव कथन अनुवाद ही है, उक्त दोनों पक्ष व्यर्थ हैं, अर्थात् जो भोजन कर चुका है, उससे 'तुम भोजन करो' इस प्रकार कहनेपर भी भोजन करने का अभाव देखने से व्यर्थ है, कारण कि अर्थ-भोजन, भोजन की प्रेरणा करने वाले को अपेक्षित है, और भोजन कर चुका हो, उससे 'भोजन मत करो' इस प्रकार कहना अनुवाद है, कारण वह भोजन कर चुका है, इसलिये उसको भोजन करने की इच्छा ही नहीं है, इसलिये भोजन का अभाव सिद्ध है, फिर मत भोजन करो, इस प्रकार कथन व्यर्थ ही है, इस प्रकार दोनों पक्ष व्यर्थ हैं, कारण कि वह 'आप्तकाम' है।

आप्तकाम में 'भोजन करो' इस प्रकार कथन फलसाधक नहीं है, कारण कि वह तृप्त है, इसलिये भोजनका अभाव सिद्ध है, यहां भोजन के अभाव का विधान अकिञ्चित्कर ही है, दोनों प्रकार व्यर्थ हैं, इस प्रकार प्रतियोगी-पूर्णकाम के विचार से साधन व्यर्थ होनेपर भी, करने वाले के विचार से विनियोग कहते हैं। (प्रवर्तमानस्य)

जो कोई करुणा आदि के अधीन पुरुष 'भोजन करो' इस प्रकार भोजन के लिये प्रेरणा करता है, उसको धर्म सिद्ध होता है, कारण कि परोपकारके लिये प्रवृत्त हो रहा है।

और जो 'भोजन मत करो' इस प्रकार कहता है, उसको अज्ञान सिद्ध होता है, अर्थात् इसने तो भोजन कर लिया है, फिरमें भोजन के लिये प्रेरणा व्यर्थ करता हूं, इस प्रकार के ज्ञान का उसको अभाव सिद्ध होता है।

इस प्रकार ज्ञाता को पूर्णकाम से धर्म और अज्ञाता को स्वरूप ज्ञान होता है, अर्थात् आप्तका पूर्णत्व और अपने को अज्ञत्व ज्ञात होता है, इस प्रकार नहीं भजन करने वाले चार प्रकार के कहे हेतुओं में आत्माराम, तथा आप्तकाम दोनों का निरूपण करके अब 'अकृतज्ञ' और 'गुरुद्रोही' दोनों अधम हैं, अधर्मों में भी ज्ञान तथा अज्ञान से विशेष निरूपण आगे कहते हैं।

जो कोई पुरुष किया उपकार दया धर्म आदि को नहीं जानते हैं, और प्रत्युपकार करने में समर्थ होते भी जिनके भजन में दया तथा धर्म सिद्ध होता है, उन पूर्वोक्त दीन तथा धर्माधिकारी,

दोनों का भजन नहीं करते हैं, वे अकृतज्ञ हैं, अर्थात् किये उपकार को जानते नहीं हैं, उनके भजन नहीं करने में अज्ञान हेतु है और यदि ज्ञान हो, तो भी भजन नहीं करता है, तो इस प्रकार की अवस्था में गुरुद्रोही होता है।

जो कोई अपना पुरुषार्थ दया धर्म साधन करने वाला है, वह गुरु पूज्य है, उस गुरु की आपत्ति में अपने में शक्ति होने पर भी जो पुरुष गुरु की उपेक्षा करता है, सेवा नहीं करता है तो वह पुरुष गुरुद्रोही है, अर्थात् गुरु से द्रोह करने वाला है, इस प्रकार सबके गुणदोष का निरूपण किया है ॥ १९ ॥

अब श्री पुरुषोत्तमजी 'मिथो भजन्ति' इत्यादि तीन श्लोकों का समुदाय से अर्थ कहते हैं।

अज्ञान में भजन करना संभव होता है, इसलिये जो पुरुष किये हुए उपकार को नहीं जानने वाले हैं, उनको अल्पदोष है, और जो किये हुए को जाननेवाले हैं, और जान करके भी नहीं करते हैं, उनको अधिक दोष है, यहां यह सिद्धान्त हुआ कि शास्त्र में कहे फलसे भिन्न लौकिक फलका अभिसन्धान-विचारपूर्वक जो एक दूसरे का परस्पर भजन करता है, वह मिथोभजन है, उसमें धर्म नहीं है, कारण कि इसमें पिशाचभिक्षान्याय है, जो पूर्व में कहा है, और परस्पर भजन करने में सौहृद भी नहीं है, कारण कि प्रथम पुरुष ने जिस द्वितीय पुरुष का भजन किया है, उस भजन का प्रतिभजन-बदला न मिलने पर प्रथमपुरुष को क्रोध उत्पन्न हो जाता है, जिस प्रकार इन्द्रद्युम्न के प्रति अगस्त्यने क्रोध किया था, क्रोध नहीं आवे तो भी सौहार्द शिथिल हो जाता है, इस प्रकार लोक में देखा गया है, सेवा आदि करने पर जो दिया जाता है, उस दान में भी सेवा करनेवाले के दुःख की निवृत्ति ही फल है, धर्मफल नहीं है, इसी से 'सेवा दानं कलौ युगे' पुराणादि में सेवादान की निन्दा की है, और सेवा कराकर नहीं देने में तो आशाभङ्ग आदि से पाप, तथा अपवाद होता है, इस बातका भी लोक से ज्ञान होता है।

मूल में अन्यथापद का अर्थ परोपकार किया है, अर्थात् सेवादान परोपकार के लिये नहीं है, उसमें स्वार्थ, अस्वार्थ दोनों ही नहीं है, कारण कि परोपकारार्थ परस्पर भजन भाव है।

शास्त्रानुसारी गुरुसेवा में निरपवाद धर्म है, संभावित अपवाद में तो पाप तथा अपवाद भी होता है, इसलिये इस प्रकार का भजन करने वाले व्यापारियों की तरह स्वार्थपर ही हैं, इनका साधन स्वार्थमात्र में ही उपक्षीण-नष्ट हो जाता है, इसलिये नाममात्र से उसको धर्मत्व है, वास्तव में नहीं है, यहांतक प्रथम श्लोक का व्याख्यान किया है।

अब द्वितीय श्लोक का व्याख्यान करते कहते हैं कि—

नहीं करनेवालों का भजन तो लौकिक, वैदिक, भेदसे दो प्रकार का है, उसमें स्नेहप्रयुक्त, अर्थात् स्नेहसे प्रेरित सौहृद के लिये पुत्र आदि का भजन लौकिक है, उसमें भजन करने वाले पुरुष का जो भजन नहीं करता है, उसमें सौहार्द फल है, पुत्रादिकों के भजनसमय में सुख उत्पन्न होने के कारण धर्म अर्थात् ऐहिक तथा पारलौकिक संबंध का ज्ञान नहीं होता है, अतः फल भी है, किन्तु यह सापवाद धर्म है, अथवा निरपवाद है, इस प्रकार भी ज्ञान नहीं होता है, तब इसका ज्ञान कैसे होता है।

धर्म तो आनुषङ्गिक होने से अल्प है, कारण इसमें सौहार्द की मुख्यता है; सौहार्द करने में करने में प्रयोजक ऐहिक-इसी जन्म में प्रथम से सम्बन्ध अथवा दूसरे जन्म का सम्बन्ध है, उसमें भी जन्मान्तरीय सम्बन्ध का ज्ञान हो जाना कठिन है।

इस प्रकार की आकाङ्क्षा में कहते हैं कि संभावित अपवाद स्थल में जिस समय भजनीय, सौहार्द लक्षण प्रत्युपकार करता है, उस समय उस स्थल में भजन करनेवाले को अपवाद भी होता है।

भजन नहीं करने वाले पुरुष द्वारा प्रतियोगी—नहीं भजन करने वाले का भजन करने वाला, उसको तो यथावसर कृतघ्नता-दोष परिहार करने के लिये प्रत्युपकार करना ही चाहिये।

यदि प्रत्युपकार नहीं करता है तो 'कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः' कृतघ्न की निष्कृति नहीं है इस प्रकार शास्त्र में महान् दोष कहा है, अतः कृतघ्नतादोष परिहार करने के लिये ही 'वृद्धौ च मातापितरौ साध्वीं भार्यां शिशुं सुतम्। गुरुं विप्रं प्रपन्नंच कल्पोऽबिभ्रच्छवसन्मृतः ॥' वृद्ध माता पिता आदि साध्वी स्त्री, बालकपुत्र, गुरु, ब्राह्मण, और शरण में आया, इनको जो समर्थ होते सहायता नहीं करता है, वह श्वास लेता भी मृत समान है, इत्यादि वाक्य कहे हैं। और वैदिक भजन तो विधि प्रयुक्त है (१) उसमें कर्म प्रधान देवता, (२) प्रतियोगी का देवता भजन करने वाला, (३) असमानप्रतियोगिक, अर्थात् कीचड़ में फँसी गाय को निकालने वाला (४) समान प्रतियोगिक-प्रत्युपकार करने में समर्थ, इस प्रकार से उक्त चार भेद हैं।

उसमें प्रथम तीनों में भजन करने वाले को संशयरहित धर्मसिद्ध है, और चौथा तो (१) निरपवाद, और (२) संभावित अपवाद, भेद से दो प्रकार का है, यहां भी प्रथम में संदेह रहित धर्म है, और दूसरे में तो प्रतियोगी-भजन नहीं करने वाले का भजन करने वाला, उसके किये प्रत्युपकार की संभावना नहीं हो तो भजन करने वाले को निरपवाद धर्म है, और यदि अपवाद की संभावना हो तो संदिग्ध धर्म है, कारण कि मनुष्यों का अनित्य चित्त है, भजन काल में निरपवाद भाव है, किन्तु कालान्तर में प्रत्युपकार को ग्रहण कर लेता है, भजन नहीं करने वाले पुरुष को तो प्रायश्चित्त अपने लिये तथा भजन करने वाले के लिये करना चाहिये, जिस प्रकार सुदेव विप्रने किया था। यदि भजन करने वाले के लिये प्रायश्चित्त नहीं करे, तो इसका तीर्थाटन आदि धर्म भजते हुए में चला जाये, फिर यह पाप का भागी हो जाये इस प्रकार द्वितीय श्लोकका व्याख्यान कहा है।

भजन करने वाले का जो भजन नहीं करते हैं, उनमें तो यदि आत्माराम हैं, अथवा आप्त-काम हैं, तो निर्दोष ही हैं।

उसमें प्रथम प्रतियोगी-नहीं भजन करता है, उसका भजन करने वाला, उसका साधन-भजन, धर्म में उपयुक्त होता है। और द्वितीय प्रतियोगी का साधन तो भजन करनेवाले की अज्ञता ज्ञापन करता व्यर्थ ही है, संभावित अपवाद में तो निर्बन्ध से प्रवृत्ति में भजन करने वाले के लिये दोष भी उत्पादन करता है, सुबोधिनी में प्रथम गोपियों के प्रश्न में नहीं भजन करने वाले का भजन करने में कहीं दोष भी होता है, इस प्रकार कहा है, जिस प्रकार निष्काम पुरुष में कामिनी को दोष होता है, उक्त अभिप्राय से यहां भी अभजन करने वाले का भजन करने में जानना चाहिये, जिस प्रकार अभजन करनेवाले सुदेव विप्र के भजन में दोष होने पर सती हुई, उसी प्रकार यहां भी आत्माराम के भजन में दोष होता है, यदि भजन नहीं करनेवाले आत्माराम आदि के सदृश नहीं हैं, केवल दीन धर्माधिकारी हैं, तो भी उपकार के अज्ञान में अज्ञता प्रयुक्त दोषभागी हैं, और जानकर जो प्रत्युपकार नहीं करते हैं, वे गुरुद्रोही हैं, इस प्रकार तीसरे श्लोक का व्याख्यान श्रीपुरुषोत्तमजी ने किया है ॥ १९ ॥

(सुबो०) गोपिकानां हृदये भगवानेतन्मध्ये क इति जिज्ञासायां अभजन-कर्तृत्वाद् भजनसामर्थ्यस्यापि विद्यमानत्वान्मिथो भजनपक्षः अभजनभजन-

पक्षश्च व्यावर्तितः। ननु द्वितीये पक्षे गोपिकानां भजने स्नेहाद्भजनमस्तु, अतो भगवान् निरूपकत्वेन नैषामन्तर्भूतः। ईश्वरश्च नैषामन्तर्भवतीति कथमेवं विचार इति चेत्, मैवम्। गोपिका भोग्या इत्यविवादम्। ताश्च भोग्यसमर्पकत्व एवोपक्षीणाः। अतो भगवत एव विचारः कर्तव्यः। ईश्वरोऽपि फलार्थं सेव्यश्चेत्, न विचार्यः। व्यवहारे दृष्टार्थश्चेद्, दीयमानग्रहणाग्रहणाभ्यां विचार्य एव। पूर्वं गृहीतत्वात् नात्मारामता, नापि पूर्णकामता। प्रथमप्रवृत्त्या तृप्तावपि परित्यागो नोचितः। ततस्तृतीयपक्ष एवाभिनिवेश उचितः। तदपि सर्वज्ञस्यानुचितम्। ईश्वराणां फलदातृणां कदाचिदेवं भवतीति शङ्कायाः परिहारमाह नाहं तु सख्य इति।

इस प्रकार भगवान् के निर्णय को सुनकर गोपियों के हृदय में इस प्रकार जिज्ञासा हुई कि भजन नहीं करनेवालों के आपने चार प्रकार कहे, उनके मध्य में भगवान् कौन से प्रकार के हैं, गोपियों का भजन भगवान् ने नहीं किया, इसलिये, तथा भजन करने का सामर्थ्य भी भगवान् में विद्यमान है। यदि सामर्थ्य नहीं हो तो कीचड़ से गाय निकालने की तरह विवेचन करना ही नहीं हो सकता है, अतः सामर्थ्य विद्यमान है, इसलिये परस्पर भजन पक्ष, तथा भजन नहीं करने वाले का भजन करने का पक्ष, इन दोनों का निषेध कर दिया है, इससे भगवान में जो गोपियों ने दोष निर्धारित किया था उसका भी परिहार हो गया।

धर्मार्थ भजनपक्ष निषेध भी कर दिया है, तथापि स्नेह से भजन का निषेध नहीं किया है, इसलिये स्नेह में भक्तों का प्रवेश है शेष वाक्यों की असङ्गति है इसलिये स्नेह भजन पक्ष का भी निषेध करने के लिये आगे शंका करते हैं, (ननु द्वितीयपक्षे)।

यदि कहो कि (भजतोनुभजन्त्येक एक एतद्विपर्ययम्) इस सोलहवें श्लोक में गोपियों ने प्रश्न किया, उस प्रश्न में दूसरा जो नहीं भजन करने वाले का भजन करनेवाला पक्ष है, उसमें गोपियों ने जो भगवन का भजन किया है, उसमें स्नेह भजन मानो, जिससे गोपियों का भजन सिद्ध करने के लिये प्रथम से भगवान् स्वयं भजन करते हैं, अतः लौकिक आत्माराम आदि सदृश भगवान् नही हैं।

भागवान् तो गोपियों के स्नेह विषय से भजन में प्रयोजक हैं, इस लिये आत्माराम आदि चारों के मध्य में नहीं हैं।

द्वितीय पक्ष में गोपियों को चाहे मानो किन्तु भगवान् तो किसी पक्ष के भीतर नहीं हैं।

जिस प्रकार मां-बाप का बालक आदि विचार नहीं करते हैं, उसी प्रकार भगवान् विचार करने योग्य नहीं हैं।

यदि कहो कि बालक आदि में भी जब सामर्थ्य सत्ता आ जाती है तथा वे भी मां बाप आदि का विचार करते हैं।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं (ईश्वरश्च) भगवान् स्वयं ईश्वर हैं, ईश्वर आत्माराम आदि के मध्य में नहीं होता है, तथा ईश्वर में प्रतिभजन-भजन करने वाले का भजन करने की शंका का अभाव है, इसलिये ईश्वर आत्माराम आदि चारो से भिन्न पांचवाँ है (नाहन्तु सख्यः)

इस आगे के श्लोक में भजन करने वाले का भजन नहीं करने वाला पांचवाँ प्रकार है, इसलिये विचार करने योग्य नहीं है।

तो फिर बीसवें श्लोक में इस प्रकार का विचार क्यों किया है। अर्थात् भजन करने वाले तथा नहीं भजन करने वाले दोनों के बीच में भगवान् विचार करने योग्य न होने से ही प्रश्नोत्तर सिद्ध हो गया फिर आगे के वाक्यों की सङ्गति नहीं होगी।

इस शंका का समाधान करते श्रीमहाप्रभुजी सङ्गति कहते हैं कि इस प्रकार की शंका मत करो, गोपियां भगवान् की भोग्या हैं, इस विषय में कोई विवाद नहीं है, गोपियों ने जो भगवान् का भजन किया, वह गोपियों को भोग्य होने के कारण भोग्य पदार्थ देह आदि का समर्पण करने में क्षीण-नष्ट हो गया।

भोग्यत्व सिद्ध होने के लिये गोपियों ने देह आदि का भगवान् में उपयोग किया है, कारण कि गोपियां आत्मनिवेदन कर चुकी हैं, इतने से ही उपक्षीण हैं, अर्थात् प्रतिभजन करने की आवश्यकता के योग्य नहीं हैं, इसलिये भगवान् का ही विचार कर्तव्य है, गोपियों का नहीं। गोपियोंको इतने से ही उस प्रकार के भजन की सिद्धि हो गई, अतः विचार योग्य नहीं हैं।

यदि कहो भगवान् ईश्वर है, इसलिये इनका विचार करना योग्य नहीं है।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि ईश्वर भी यदि फल के लिये सेव्य हो तो वह भी विचार करने योग्य नहीं है, अर्थात् फल के लिये सेव्यमान ईश्वर से फल लेना चाहिये, और ईश्वर के भजन का तथा अभजन का विचार कर्तव्य नहीं है। भजन करने वाला दृष्ट ही पशु आदि रूप फल प्राप्ति के लिये भगवान् का भजन करता है, और जब उक्त फल प्राप्त नहीं होता है, तब भजनविषय—ईश्वर में विचार करता है कि मैं ने जो पूजा की है, उसमें अर्पित गंध आदि उपचारों को ईश्वर ने ग्रहण किया है, अथवा नहीं किया है।

यदि गंध आदि उपचार ग्रहण किया हो तो मेरे मनका अभिलषित होगा, अभीतक मुझे मेरे इच्छानुसार फल नहीं मिला है, इसलिये ईश्वर ने पूजा में अर्पित उपचार स्वीकार नहीं किया है, यह एक कोटि है।

मैं ने शास्त्र के कथनानुसार उसी प्रकार की मर्यादा से गन्ध आदि उपचार अर्पित किया है, इसलिये ईश्वर ने स्वीकार किया है, यह दूसरी कोटि है, इस प्रकार उपस्थित दोनों कोटियों का निर्णय करने के लिये ईश्वर विचार करने योग्य ही है।

यदि कहो कि भगवान् आत्माराम है, तुमसे उसको क्या प्रयोजन है ? जो तुम्हारे भजन का प्रति भजन करे, कुछ प्रयोजन होता तो भजन करता, फिर यहां भजन तथा अभजन का विचार क्यों किया जाता है।

इस शंका के उत्तर में गोपियां कहती हैं कि हमारा समर्पित देह आदि का प्रथम ग्रहण किया है, इसलिये अङ्गीकार करने के कारण भगवान् में आत्मारामत्व नहीं है, किन्तु व्रजसुन्दरियों के गण में विहारैकतानत्व है, इसीसे पूर्णकामत्व भी नहीं है।

यदि कहो कि भगवान् में आत्मारामत्व तथा पूर्णकामत्व नहीं है, तथापि पहले रमण किया है, उससे भगवान् तृप्त है, इसलिये रमण नहीं करते हैं, फिर यहां क्या दूषण है।

इस शंका के उत्तर में गोपियां कहती हैं कि प्रथम किये रमणसे तृप्त भी है, परन्तु हमारा परित्याग करना उचित नहीं है, कारण कि इस समय आप पूर्णकामत्वसे तृप्त हो, कालान्तरमें तो हमारी

अपेक्षा होगी। और यदि, आपको हमारा परित्याग नहीं करना था तो प्रथम से ही प्रवृत्ति आपने क्यों की थी। इसलिये भगवान् की गणना तृतीय पक्ष—कृतघ्न आदि में करनी उचित है, परन्तु कृतघ्नता भी सर्वज्ञ ईश्वर में उचित नहीं है, भगवान् आत्माराम सकाम रूप हैं. इस प्रकार प्रथम कोटिका निषेध कर दिया है, ईश्वर फल देनेवाले में कभी कृतघ्नता भी होती है, इस प्रकार अकृतज्ञ आदि द्वितीय कोटिका भी निषेध कर दिया है, अतः धर्मवान् के धर्म में सन्देह ही पर्यवसान में प्राप्त होता है, उस सन्देह को निवृत्त करने के लिये आगे के वाक्य हैं, अतः असङ्गति नहीं है, इस प्रकार सन्देह दूर करने के लिये भगवान् कहते हैं।

नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून् भजाम्यमीषामनुवृत्तये।
यथाऽधनो लब्धधने विनष्टे तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद ॥२०॥

पदपदार्थ—(हे सख्यः) हे सखियो (अहं तु) मैं तो (भजतोऽपि) भजन करनेवाले भी (जन्तून्) प्राणियों को (न) नहीं (भजामि) भजन करता हूं (अमीषाम्) प्राणियों की (अनुवृत्तिवृत्तये) अनुवृत्ति-आगे भजन, अर्थात् मुझ में आगे चित्त की वृत्ति लगने के लिये (यथा) जिस प्रकार से (अधनः) निर्धन (लब्धधने) प्राप्तधन होनेपर (विनष्टे) फिर नष्ट होने पर (तच्चिन्तया) धन की चिन्तासे (निभृतः) व्याप्त हुआ उस चिन्ता में ही मग्न होता (अन्यत्) और किसी वस्तु को (न) नहीं (वेद) जानता है, ॥ २० ॥

भाषार्थ—हे सखियो! मैं तो भजन करनेवाले प्राणियों का भजन नहीं करता हूं मेरे नहीं भजन करने का कारण यह है कि मेरा भजन करने वाले प्राणियोंका चित्त आगे मुझमें लगा रहे, जिस प्रकार निर्धन को मिला हुआ धन नष्ट होने पर वह धनकी चिन्ता में मग्न होता अन्य किसी वस्तु को जानता नहीं है, उसी प्रकार मुझको प्राप्त हुआ मेरा भक्त भी जिस समय मेरा दर्शन नहीं होता है, उस समय मुझमें मग्नचित्त होता प्रपञ्च का स्मरण नहीं करता है ॥ २० ॥

(सुबो०) तुशब्दस्तं पक्षं व्यावर्तयति। नापीश्वरभजनपक्षः शङ्कनीय इत्याह सख्य इति। गोपिकास्तु सख्यः। रसे तुल्याः। एकार्थाभिनिवेशाश्च। अहमिति भगवान्, नतु जीवः। तेन आत्मारामादिपक्षा व्यावर्त्तिताः। अहं राम एव, न त्वात्मारामः। ममात्मव्यतिरिक्तपदार्थाभावान्न व्यावर्त्यमस्ति। कामाभावादेव नाप्तकामत्वम्। अतो मम भिन्नैव व्यवस्था, नतु जीवतुल्यता। नाहं तु सख्य इति तामेव व्यवस्थामाह। भजतोऽपि जन्तून् अहं न भजामि। तत्रान्य एव हेतुः। अमीषामनुवृत्तिवृत्तय इति। अमीषां जीवानाम्। जन्तुपदेन प्राणिमात्रम्। भगवतो न केनाप्युपयोगः। भगवान् फलरूप इति सर्वेषामेवोपयोगः। तथा सति तेषां भजनमेव इष्टमिष्टसाधनं वा। तत्राहं चेत् साधनत्वेन प्रविशामि, तदा भजनमेव नाशयामि। अग्रे भजनस्य प्रतिबन्धात् पूर्वंभजनस्य वैयर्थ्यापादनात्। चतुर्धा हि भगवदुपयोगः। भगवान् भोग्यो, भोक्ता वा। भोग्यपक्षे कामनापूरकत्वेन, स्वातन्त्र्येण वा। भोक्तापि भक्त्या भक्तदत्त पदार्थस्वीकाराद्, विषयत्वेन भोगाद्वा। आद्ये भजनं नश्येत्। अल्पफलदानात्।

स्वरूपतो महत्त्वेऽपि कालपरिच्छेदात्। द्वितीये तु तथा त्वमति भजनेन भवति। तद् गोपिकानां नास्तीति तत्सिद्ध्यर्थमभजनम्। अपेक्षाभावात् नाहं विषयन्यायेन भोक्ता। भक्त्यर्थं तु अभजनमेवेति सिद्धान्तसंग्रहः। यथा अभजने अनुवृत्तिः सिध्यति, तथा प्रकारमाह यथाधन इति। पूर्वमधनः, पश्चाल्लब्धं धनं, तच्चेद्विनष्टं, तदा तच्चिन्तया व्याप्तः, निभृतः तदेकनिमग्नः सन्, अन्यन्न वेद। एतत्तु लोकप्रसिद्धम्। तथा गोपिकानामपि पूर्वमप्राप्तो भगवान् प्राप्तश्चेत्तिरोभवति, तदा निभृताः, तत्रैव मग्नचित्ताः न प्रपञ्चं स्मरिष्यन्ति। निभृतानां प्रयोजनं पूर्वमुक्तमेव ॥२०॥

श्लोक में 'तु' शब्द पूर्वोक्त पांचो कोटियों का निषेध करता है, अर्थात् (१) 'भजतोऽनुभजन्त्येके' इसमें कितने ही पुरुष भजन करने वाले का भजन करते हैं, परस्पर भजन करने वालों का कैसा स्वरूप है, यह प्रश्नरूप प्रथम कोटि है।

(२) 'एक एतद्विपर्ययम्' नहीं भजन करने वाले का जो भजन करता है उसको, तथा नहीं भजन करने वाले को क्या फल है ?

(३) 'नोभयांश्च भजन्त्यन्ये' यहां भजन करने वाले का नहीं भजन करनेवाले आत्माराम आदि को तथा आत्माराम आदि का भजन करने वालों को क्या फल है, इस प्रकार पांचो कोटियों के मध्य में भगवान् नहीं हैं।

ईश्वर गोपियों का भजन करता है, अर्थात् ईश्वर भी प्रतिभजन-फल दान आदि से करता ही है, इसलिये हम सब भी प्रतिभजन की प्रतीक्षा कर रही हैं।

ईश्वर भजन करता है, इस पक्ष में भी शंका नहीं करनी चाहिये, इसमें हेतु कहते हैं कि (हे सख्यः) गोपिकायें तो भगवान् की सखियां हैं, और रस में तुल्य-बराबरी की हैं, इनका एक अर्थ में ही अभिनिवेश है। गोपियों ने फल का उद्देश करके भजन नहीं किया, किन्तु शुद्ध पुष्टि-मार्ग की रीति से भजन किया है, इसलिये मैं ने भी फलदान नहीं किया है।

दूसरी बात यह है कि गोपियों की भगवान् में ईश्वरबुद्धि नहीं है, केवल सख्यभाव से रमण किया है, इसलिये प्रतिभजन की अपेक्षा नहीं है, यह भाव है।

श्लोक में 'अहं' पद है, इसका अर्थ मैं भगवान् हूं जीव नहीं हूं, कृतघ्न आदि दोष जीव में हैं, मुझ भगवान् में नहीं होते हैं, भगवान् तो निर्दोष पूर्ण विग्रह आदि हैं, इससे 'अकृतज्ञ' आदिका भगवान् में निषेध कहा है, तथापि भगवान् में आत्माराम आदिका श्रुति में प्रतिपादन किया है, फिर तुम आत्माराम आदिका निषेध क्यों करते हो।

इस प्रकारको जानने की इच्छा में कहते हैं कि (तेन) जब कृष्ण स्वयं भगवान् हैं, जीव नहीं हैं, इस प्रकार वर्णन किया है, तब इससे आत्माराम आदि पक्षभी भगवान् में संभव नहीं होते हैं, कारण कि 'अहंराम एव न त्वात्मारामः।' भगवान् कहते हैं गोपियो मैं तो राम ही हूं।

यहां पर कर्ता में घञ् प्रत्यय हुआ है, 'रमते-रामः' सर्वत्र ही रमण करता हूं, राम सर्वत्र ही रमण करता है, 'आत्माराम' नहीं हूं, आत्माराम अपनी आत्मा में ही रमण करने वाला होता है, अन्यत्र रमण करनेवाला नहीं होता है, इसलिए आत्मशब्द को अन्य व्यावर्तकत्व होने के कारण भगवान में आत्मारामत्व नहीं है।

'आत्मैवेदं सर्वम्' 'स सर्वं भवति' इत्यादि श्रुतियों से भगवान् सर्वरूप हैं, इसलिये आत्मा से व्यतिरिक्त-भिन्न पदार्थ नहीं हैं, अतः आत्मा में ही रमण करते हैं, अन्यत्र रमण नहीं करते हैं, भगवान् में आत्मारामत्व संभव नहीं है, इस बात को सुबोधिनी में कहा है कि 'ममात्म व्यतिरिक्त-पदार्थाभावान्न व्यावर्त्यमस्ति' ।

मेरी आत्मा से व्यतिरिक्त भिन्न कोई भी पदार्थ नहीं है, इसलिये व्यावर्त्य नहीं है, जीवों को आत्म, अनात्म विवेक होता है, मेरे लिये तो देह आदि और विषय आत्मरूप ही हैं ।

इसी प्रकार मुझे काम–इच्छा नहीं है, इसलिये ही 'आप्तकाम' नहीं हूँ अतः गोपियों मेरी भिन्न ही व्यवस्था है, जीव तुल्यता नहीं है ।

शुकदेव जी प्रभृति के आत्मा में भगवान् रमण करते हैं, इसलिये भगवान् को आत्माराम कहा है, भगवान् मैं तो 'यह आत्मा भिन्न है, इसमें मैं रमण करता हूं' इस प्रकार का भेद नहीं है, अतः शुकदेव आदि मुनियों ने भिन्न पदार्थ की व्यावृत्ति-निषेध के लिये आत्माराम भगवान् को कहा है, अतः भगवान् में आत्माराम पक्ष नहीं है ।

इसी प्रकार 'सोऽकामयत' इत्यादि श्रुति में अभिध्याका उपदेश किया है, अर्थात् कथन मात्र से उपदेश किया है, काम का उपदेश नहीं किया है, 'अपुत्र पंडित पुत्र नहीं होता है', इस न्याय से आत्मकाम पक्ष भी निरस्त कर दिया है, अब उक्त व्यवस्था से भगवान् की भिन्न व्यवस्था है, उसका वर्णन करते हैं 'नाहं तु सख्यः' इत्यादि से ।

भगवान् कहते हैं कि हे सखियो ! मैं भजन करने वाले प्रणियों को नहीं भजता हूं, भजन नहीं करने में अन्य ही हेतु है, उसको कहते हैं कि

(अमीषामनुवृत्तिवृत्तये) ऐ व्रज में रहने वाले ! सर्वजीवों की अनुवृत्ति मुझमें चित्त की वृत्ति लगने के लिये मैं भजन करने वालों का प्रत्यक्ष भजन नहीं करता हूं किन्तु परोक्ष भजन करता हूं ।

मूल में जन्तु पद से प्राणिमात्र को कहा है, इससे यह सूचन किया है कि साधनमार्गीय जीव भजन करने वालों का मैं भजन नहीं करता हूं, उनको तो फल देकर निश्चिन्त हो जाता हूं ।

भगवान् को किसी भी प्राणिमात्र का उपयोग नहीं है, भगवान् फलरूप हैं, इसलिये सर्व प्राणियों को ही भगवान् का उपयोग है, इस प्रकार उपयोग होने के कारण प्रणियों को भजन ही इष्ट-फलरूप भजन है, अथवा इष्टसाधन-इष्टसाधन रूप भजन है ।

कामना पूरी करने में भोग्य पक्ष में, विषय से भोक्ता—अर्थात् योग करने वाले पक्ष में इष्ट साधनत्व है, शेष दो पक्षों में इष्टत्व है, इस प्रकार विभेद है ।

इष्टसाधन पक्ष में दोनों के मध्य में साधन से भजन करना हो तो मैं यदि काम पूरा करने के लिये प्रवेश करता हूं तो मैं भजन का नाश करता हूं अर्थात् कामभोग से आगे भजन में प्रतिबन्ध हो जाता है, इसलिये भजन नष्ट हो जाये । कारण कि भजन करने वाले को भगवान् ही इष्ट है, इसलिये वह साधन भजन का नहीं हुआ, तथा पूर्वकृत भजन नित्य फल का साधन करने वाला न होने से व्यर्थ हो जाता है, अर्थात भजन फल सिद्ध नहीं होता है, इसी बात को विस्तृत रूप से कहते हैं (चतुर्धाहि भगवदुपयोगः) भगवान् का उपयोग चार प्रकार से होता है ।

(१) भगवान् भोग्य है, (२) अथवा भोक्ता ।

भगवान् भोग्य है, इसमें दो प्रकार हैं, और भगवान् भोक्ता है, इसमें भी दो प्रकार हैं, इस प्रकार (४) चार प्रकार हैं ।

भोग्य है, इसका प्रथम प्रकार यह है कि भगवान् आलिङ्गन आदि से कामिनी स्त्री की अभिलाषा पूर्ण करते हैं, इसलिये उक्त प्रकार से कामिनी के भगवान् भोग्य हैं, दूसरा प्रकार यह है कि भक्त जिस प्रकार की इच्छा करता है, उसी प्रकार स्वरूपानंद का अनुभव करता है ।

अब भोक्ता हैं इसके दो प्रकार कहते हैं ।

प्रथम प्रकार यह है कि भक्त का दिया हुआ पदार्थ स्वीकार करके भक्त को भक्ति सिद्ध करने के लिये भक्त के दिये पदार्थ के भोक्ता हैं ।

दूसरा प्रकार यह है कि विषयत्व से भोग करने के कारण भगवान् भोक्ता हैं, अर्थात् काम मात्र पूरकत्व में भोग्य हैं, और स्वेच्छा से भोग में भोक्ता हैं, इस प्रकार भगवान् का चार प्रकार से उपयोग होता है ।

उसमें प्रथम पक्ष में, अर्थात् कामना पूर्ण करके भोग्य पक्ष में भजन नष्ट हो जाता है ।

कामना पूर्ण करने से यदि भगवान् भोग्य हो जाते हैं तो अत्यन्त कामना अल्प हो जायेगी इसलिये उतनी कामना की पूर्ति होने पर आगे प्रयोजन का अभाव होने से भजन नष्ट हो जायेगा इसमें हेतु कहते हैं । (अल्पफलदानात्) अल्प फल को प्राप्त करके कामना की निवृत्ति हो जायेगी, और फिर कामना की निवृत्ति हो जाने पर भजन की अनुवृत्ति नहीं होगी ।

यदि कहो कि भगवान् तो अगणितानन्द हैं, इसलिये कामना पूर्ण करने के लिये भी भगवान् के सम्बन्ध में पूर्णानन्द का अनुभव ही होगा । अतः कामना पूर्ण करने से भोग्यत्व में क्या बाधा है ।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि (स्वरूपतो महत्त्वेऽपि) भगवान का स्वरूप यद्यपि महत्त्व-पूर्णानन्द है,तथापि कालपरिच्छेद से-अर्थात् काल से कामनाविषय रमणका परिच्छेद है, मर्यादित है, अतः इस कारण से उतने ही रमण से मनोरथ पूरा हो जाने पर आगे भजन की अनुवृत्ति नहीं होगी, अर्थात् कामियों का काम पूरा हो जाने पर फिर भजन करने में चित्त की वृत्ति लगती नहीं है ।

द्वितीय पक्ष में स्वतन्त्रता से भोग्यत्व पक्ष में तो अहर्निश विप्रयोग संयोग भेद से यदि भक्त अत्यन्त भजन करता है, तो स्वतन्त्रता से भगवान् फलरूप भोग्य होता है, इसलिये विप्रयोग दान के लिये भगवान् तिरोहित हो गये थे, अतः उक्त प्रकार से भगवान् की सरणि-मार्ग अन्य ही है, आत्माराम आदि चारों में भगवान् का अन्तर्भाव नहीं है । और पूर्वोक्त अतिभजन गोपियों में नहीं है, इस बात को सिद्ध करने के लिये भगवान् गोपियों का भजन नहीं करते हैं ।

अब आगे विषयन्याय से भगवान् भोग करते हैं, इस चतुर्थ पक्ष में दूषण कहते हैं (अपेक्षाभावात्) ।

भगवान् कहते हैं कि मुझे किसी विषय की अपेक्षा नहीं है, इसलिये विषयन्याय से भोक्ता नहीं हूं ।

अब तृतीय पक्ष भक्त का दिया पदार्थ स्वीकार करने में कहते हैं कि (भक्त्यर्थं तु) भक्ति सिद्ध करने के लिये भक्ति से भक्त के दिये पदार्थ के भगवान् भोक्ता हैं, इस पक्ष में तो भक्ति के लिये—निरन्तर भक्ति सिद्ध करने के लिये भगवान् ने गोपियों का भजन नहीं किया, इसलिये जिस समय निरन्तर भक्ति होगी, उस समय भगवान् भोक्ता—भोग करनेवाले हो जायेंगे, इस प्रकार सिद्धान्त का संग्रह है ।

अब जिस प्रकार भगवान् भक्तों का भजन नहीं करे, और भगवान् के भजन न करने से भक्तों की भगवान् में अनुवृत्ति—आगे भजन सिद्ध होता है, उसका दृष्टान्त से प्रकार बतलाते हैं, (यथाधनः) ।

जिस प्रकार कोई पुरुष प्रथम निर्धन है, पीछे उसको धन मिल गया, यदि वह धन नष्ट हो जाये, तो उस धन की चिन्ता से व्याप्त पुरुष धन की चिन्ता में ही एक निमग्न—डूबता हुआ अन्य किसी वस्तु को नहीं जानता है, यह बात लोक में प्रसिद्ध है, उसी प्रकार गोपियों को भी प्रथम भगवान् प्राप्त नहीं थे, पीछे प्राप्त हुए, फिर यदि प्राप्त भगवान् तिरोहित हो जायें तो भगवान् में ही मग्नचित्त होती गोपियां प्रपञ्च जगत् का स्मरण नहीं करेंगी, इनका चित्त केवल भगवान् में लगा रहेगा, इस प्रकार भगवान् में ही एकचित्त वाली गोपियों के भजन का प्रयोजन फल तो पहिले द्वितीय पक्ष में अतिभजन करने पर स्वतन्त्रता से भगवान् भक्त के भोग्य बन जाते हैं, कहा है ॥ २० ॥

(सुबो०) एवं स्वस्याभजने हेतुमुक्त्वा प्रकृते तदभावमाह एवमिति ।

इस प्रकार भगवान् ने गोपियों का भजन न करने में हेतु कहकर अब गोपियों के विषय में अभजन का अभाव, अर्थात् भजन करनेको, अर्थात् मैं तुम्हारा भजन करता हुआ ही स्थित हूं इस बात को भगवान् कहते हैं ।

एवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः ।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं मासूयितुं मार्हथ तत्प्रियं प्रियाः॥२१॥

पदपदार्थ—(हे अबलाः) हे अबलाओ (एवं) इस प्रकार (मदर्थोज्झितलोकवेदस्वानां) मेरे लिये त्याग दिये लोक, वेद, अपने सगे सम्बन्धी जिन्होंने, इस प्रकार त्याग करनेवाली (वः) तुम्हारी सब की (मयि) मुझ में (अनुवृत्तये) चित्त की वृत्ति लगने के लिये (परोक्षं) परोक्ष (भजता) भजन करता हुआ (मया) मैंने (तिरोहितं) तिरोधान किया, (हे प्रियाः) हे प्रियाओ । (तत्) परोक्ष भजन करनेवाले (प्रियं) प्रिय (मा) 'मां', मुझको (असूयितुं) गुण में दोषारोपण करने को असूया कहते हैं, अतः निन्दा करनेको (मा) नहीं (अर्हथ) योग्य हो ।। २१ ।।

भाषार्थ—हे अबलाओ, इस प्रकार मेरे लिये लोकवेद और स्वजन-सगे सम्बन्धियों का त्याग करनेवाली तुम्हारी, मुझ में चित्त की वृत्ति लगनेके लिये परोक्ष-साक्षात् नहीं भजन करता हुआ मैं तिरोहित हुआ था, इसलिये हे प्रियाओ ! परोक्ष भजन करनेवाले प्रिय मुझको दोषारोपण करने के लिये तुम योग्य नहीं हो ॥ २१ ॥

(सुबो०) यदुक्तं ताभिररण्ये स्त्रियो रात्रौ कथं त्यक्तव्याः । तदर्थमेव-मुच्यते । द्वयमत्र कर्तव्यम् । भजनानुवृत्त्यर्थमभजनम्, रात्रौ रक्षार्थं भजनं च । तत् परोक्षभजनेन सिध्यतीति मया परोक्षं भजता तिरोहितम् । भजने हेतुमाह एवमिति । मदर्थमेव उज्झितालोकवेदस्वाभिः । वृथा परित्यागव्यावृत्त्यर्थं मोक्षार्थं परित्यागव्यावृत्त्यर्थं च मदर्थमुज्झितेत्युक्तम् । आद्ये त्यागोनिष्टहेतुः ।

द्वितीये न मम भारः । त्रयः पदार्थास्त्यक्तव्याः । लोको दुस्त्याज्यः । आर्यमार्गो वैदिकः । प्रकारस्तादृश इति । मयैव लोके तथैव प्रतीतिजननात् । पतिपुत्रादयो दुस्त्याज्याः । तत्रापि मयि प्राप्ते, किन्तु मदर्थे मत्कामनायामेव । तदा मे विचिकीर्षितो भवतीति । 'सर्वधर्मान् परित्यज्ये'ति तादृश एव मम भाव इति त्रितयपरित्यागे मया भजनं कृतम् । (वस्तुतस्तु स्वपदं स्वात्मपरम् । अन्यथा पतिपुत्रादीनामपि लोकवेदमध्यपातात्तेनैव तत्प्राप्तेः स्वपदमनर्थकं स्यात् । तथा च स्वात्मत्वेन स्नेहविषयत्वाभाव एव तत्त्यागः । एतासां भगवदर्थत्वेन प्रीतिविषयत्वादात्मादीनामिति सारम् ।) युक्तश्चायमर्थः । अनन्याः पालनीया इति । वः युष्मान् । मय्यनुवृत्तय इत्येकं फलम् । अबला इति सम्बोधनात् न सतामिव प्रत्यक्षेण भवतीनां भजनं सिध्यतीति ज्ञापितम् । परोक्षं भजता अतिरोहितं वा । भजनं भोगो वा । भोक्त्रैव मया भोगं कुर्वता तिरोहितम् । भवतीभिर्न दृष्ट इत्यर्थः । अनेनाभजनपक्षो व्यावर्तितः । तस्मिन् सत्यसूया सम्भवति । अकृतज्ञत्वादिदोषारोपणेन मा मां असूयितुं नार्हथ । यतः प्रियम् । प्रिये दुष्टे स्वस्यापि तथात्वस्यावश्यकत्वात् त्यक्तुमशक्यत्वात् । किञ्च प्रिया यूयम् । कृतज्ञत्वादयो हि धर्मा न प्रीतिविषये भवन्ति । औदासीन्यसामानाधिकरण्यात् ॥२१॥

गोपियों ने प्रथम भगवान् से कहा था कि वन में रात्रि के समय स्त्रियों का त्याग किस प्रकार करते हो, इस बात को ही इस श्लोक में कहते हैं कि यहां इस विषय में दो बात करनी चाहिये, एक तो भक्त भगवान् का भजन निरन्तर किया करे, इसके लिये भक्त का भजन भगवान् नहीं करते हैं ।

दूसरी बात यह है कि रात्रि में भक्त की रक्षा करने के लिये भजन करते हैं, ये दोनों बात परोक्ष भजन से सिद्ध होती है, इसलिये मैं परोक्ष से भजन करता तिरोहित हो गया था ।

अब भगवान् गोपियों के भजन में हेतु कहते हैं, (एवं मदर्थोज्झितेति) इस प्रकार मेरे लिये ही त्याग दिये लोकवेद तथा सगे सम्बन्धी जिनने, इस प्रकार की तुम सबको देखकर मैंने तुम्हारा भजन किया है ।

गोपियों ने जो लोकवेद तथा सम्बन्धियों का त्याग किया है, वह वृथा नहीं किया है, इसी प्रकार मोक्ष के लिये भी परित्याग नहीं किया है, किन्तु मेरे लिये त्याग किया है ।

प्रथम पक्ष-लोकवेद सम्बन्धियों का वृथा त्याग करने के पक्ष में अनिष्टहेतु फल है, अर्थात् वृथा त्याग में विधि के अभाव से किया त्याग त्याज्यों का दुःख सम्पादन करनेवाला होता है, इसलिये अनिष्टहेतु है ।

द्वितीय पक्ष—लोकवेद सम्बन्धियों का त्याग मोक्ष के लिये नहीं किया, इस पक्ष में तो यदि त्याग मोक्ष के लिये नहीं किया हो तो मेरे ऊपर भार रहता नहीं है ।

अथवा योजनाकार लालूभट्ट जी ने 'द्वितीयेन मम भारः' इस प्रकार पाठ स्वीकार किया है, उसके अनुसार अर्थ 'द्वितीयेन' द्वितीय से, अर्थात् मेरे लिये त्याग करने से (मम भारः) मेरे

ऊपर भार होता है, अर्थात् मैं तुम्हारा ऋणी हुआ हूं, अतः ऋण के दूर करने के लिये परोक्ष भजन करते मैंने तिरोधान किया था, यह अर्थ है ।

वास्तव में तो मैं तुम्हारा सबका ऋणी हूं, इस बात को आगे के श्लोक में भगवान् कहेंगे ।

मूल में मुद्रित (द्वितीये न मम भारः) इस प्रकार पाठ कुछ समीचीन प्रतीत होता है, लोकवेद तथा सगे सम्बन्धी, इन तीनों पदार्थों का त्याग करना चाहिये, लोक का त्याग करना अत्यन्त कठिन है, आर्य मार्ग वैदिक है, वैदिक मार्ग का त्याग करना भी कठिन है, उक्त मार्ग दुस्त्याज्य हैं, इसमें हेतु कहते हैं कि मैंने ही स्वयं लोक में इसी प्रकार का ज्ञान उत्पन्न किया है कि पति-पुत्र आदि दुस्त्याज्य हैं, इनका त्याग करना अत्यन्त कठिन है, उसमें भी गोपियों ने मेरी प्राप्ति होने के अनन्तर त्याग नहीं किया है, किन्तु मेरे लिये ही मेरे मिलने की कामना में ही त्याग किया है ।

जिस समय इस प्रकार का भक्त होता है, उस समय मेरा विचिकीर्षित होता है, अर्थात् विशिष्ट, सबसे अधिक चिकीर्षित, कृति-लीला, उस लीला का इच्छाविषय हो जाता है, अर्थात् उस भक्त में लीला करने की इच्छा मैं करता हूँ । 'यदा पुमांस्त्यक्तसमस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे' जिस समय पुरुष समस्त कर्मों का त्याग करके आत्मनिवेदन करता है, उस समय मेरी विशेष (चिकीर्षित) करनेकी इच्छा होती है, इत्यादि वाक्य पूर्वोक्त वाक्य की पुष्टि करते हैं ।

'सर्वधर्मान् परित्यज्य' सर्वधर्मों का परित्याग करके जो मेरी शरण आता है, इस प्रकार के भक्त में ही मेरा भाव है, इसलिये पूर्वोक्त तीनों, लोक, वेद तथा सम्बन्धियों का परित्याग करने पर ही मैंने तुम्हरा भजन किया है ।

मूल में 'स्व' ~~पद का अर्थ~~ पति पुत्रादि कहा है । और उक्त अर्थ में अरुचि मानकर श्री-गो०विट्ठलनाथजी कहते हैं कि वास्तव में तो 'स्व' पदका अर्थ आत्मपर है, पतिपुत्रादिपर नहीं है ।

यदि 'स्व' का अर्थ पति पुत्रादि पर मानते हैं, और आत्मपर नहीं मानते हैं तो पति पुत्र आदि भी लोकमध्यपाती हैं, इसलिये लोकत्याग कथन से ही पति-पुत्रादि का भी ग्रहण हो जाता है, फिर 'स्व' पद अनर्थक हो जायेगा, अतः 'स्व' पदका अर्थ आत्मपर है ।

गोपियों का अपनी आत्मा में स्नेह नहीं था, गोपियों ने अपनी आत्मा का त्याग किया, अर्थात् अपने आत्मत्व से पुत्रादि हमारे हैं, इस प्रकार से स्नेहविषय का अभाव ही पतिपुत्रादि का त्याग है, गोपियों की आत्मा आदि में जो प्रीति है, वह भगवदर्थ ही है । सार यह है कि भगवान् के विनियोग के लिये ही आत्मा आदि में प्रीति है, इस प्रकार अर्थ युक्त ही है, अनन्य भक्तों का पालन करना ही चाहिये, यह अर्थ मूल के 'हि' शब्द से कहा है ।

'वः' शब्द मूल में कहा है, इसकी आवृत्ति एक जगह षष्ठी, और एक जगह द्वितीया विभक्ति से करने पर इस प्रकार अन्वय होता है कि 'वः' युष्माकं, तुम्हारी सब की अनुवृत्ति के लिये, यह षष्ठी का, और 'वः युष्मान् परोक्षं भजता तिरोहितं' तुमको सबको परोक्ष से भजन करता मैंने तिरोधानकिया, यह द्वितीया का, अर्थात् लोक वेद आदि का त्याग करने वाली तुम सब का इस प्रकारका भजन सिद्ध न होने में अनुवृत्ति प्रकार से भजन सिद्ध करने के लिये तुम सबको परोक्ष में भजन करता हुआ मैंने तिरोधान किया था ।

(हे अबलाः) हे अबलाओ इस संबोधन से भगवान् सूचित करते हैं कि जिस प्रकार मैं सत्पुरुषों का भजन प्रत्यक्ष करता हूं, अर्थात् उनको प्रत्यक्ष मात्र से फल सिद्ध होता है, उस प्रकार आप सबका भजन सिद्ध नहीं होता है, किन्तु विप्रयोग से ही अनुवृत्ति रूप फल होता है, सत्पुरुषों का-सा प्रकार करने में तुम्हारा सामर्थ्य नहीं है, इसलिये 'अबला' पद कहा है, इसीसे मैंने तिरोधान किया था ।

अथवा 'परोक्षं भजता अतिरोहितं' तुम सबका परोक्ष से भजन करता हुआ मैंने तिरोधान नहीं किया ।

अथवा 'भजन भोग' भोक्ता मैंने भोग करते हुए तिरोधान किया था, तुम गोपियों ने मुझे नहीं देखा ।

इस प्रकार भगवान् ने गोपियों का भजन नहीं करने का पक्ष निवारण किया है ।

यदि भगवान् गोपियों का भजन नहीं करे तो असूया संभव होती है, गुणों में दोष आरोप करने को असूया कहते हैं ।

भगवान् गोपियों से कहते हैं कि मुझको आप सब अकृतज्ञ-कृतघ्न आदि दोष का आरोप करके असूया करने के लिये योग्य नहीं हो, कारण कि मैं तुम्हारा सबका प्रिय हूँ, प्रिय के दुष्ट होने पर अपने को भी दुष्ट होना आवश्यक है, जब मैं प्रिय दुष्ट हूं, तो तुम सब गोपियां भी दुष्ट अवश्य होनी चाहिये, कारण कि तुम सब मेरा त्याग ही कर सकती हो, और तुम सब मुझको प्यारी हो इसलिये कृतज्ञत्व, तथा अकृतज्ञत्व धर्म प्रीति विषय में नहीं होते हैं, अर्थात् जिसमें निरुपाधिक प्रीति है, उसमें कृतज्ञ आदि धर्म नहीं होते हैं ।

और जहां उदासीनता है, वहां प्रेम नहीं होता है, अपेक्षा बुद्धि होती है, वहां पर ही कृत-ज्ञत्व आदि धर्म होते हैं, इसी बात को वृत्रासुर चतुःश्लोकी में 'प्रियं प्रियेव' इस पद के व्याख्यान में श्रीमत्प्रभुचरण ने, प्रियपद से निरुपाधिक-उपाधिरहित स्नेहका निरूपण किया है ।

इसी बात को किसी स्नेह के जाननेवाले ने कहा है कि—

'आविर्भाव' दिने न येन गणितो हेतुस्तनीयानपि, क्षीयेतापि नवापराधविधिना नत्या न वैवर्धते । पीयूष प्रतिवादिनस्त्रिजगतां दुःख द्रुहःसाम्प्रतं, प्रेम्णस्तस्य गुरोः किमद्य करवै वाग्निष्ठता गौरवम्" ।

अर्थात्, जिस दिन स्नेह हुआ, उस दिन स्नेह से थोड़ी भी हेतु की गणना नहीं की, और अपराध में कुछ भी कम नहीं हुआ और नति में बढ़ा भी नहीं, त्रिलोकी दुःख नाश कर अमृत वाणी बोलने वाले उस प्रेम गुरु के प्रेमका इस समय आज वाणीनिष्ठ गौरव को मैं क्या करूं, अतः स्नेह करनेवाले दोनों के मध्य में सोपाधिक स्नेह किसी को भी नहीं करना चाहिये, इस प्रकार यहां सार कहा है ॥ २१ ॥

(सुबो०) एवं तासां मनोमार्जनमुक्त्वा भक्तिमार्गविरोधं परिहर्तुं ताः स्तौति न पारयेऽहमिति ।

इस प्रकार भगवान् गोपियों के मनका मार्जन—गोपियों के मनमें भगवान् दोषी थे, उसका मार्जन—समाधान से करके अब आगे भक्तिमार्ग के विरोधको दूर करने के लिये गोपियों की स्तुति करते हैं ।

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः ।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलां संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना ॥२२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कंधपूर्वार्धे रासक्रीडायां गोपी-सान्त्वनं नाम एकोनत्रिंशोऽध्यायः ।

पदपदार्थ—(निरवद्यसंयुजां) निर्दोषभजन युक्त (वः) तुम्हारे (स्वसाधुकृत्यं) उपकारका बदला (विबुधायुषा) ब्रह्मा की आयु से (अपि) भी (अहं) मैं (न) नहीं (पारये) कर सकता हूं (याः) जो प्रसिद्ध तुम सब (दुर्जरगेहशृङ्खलां) जो कभी जीर्ण नहीं होती इस प्रकार की घररूप सांकरको (संवृश्च्य) काटकर (मा) मुझको (अभजन्) भजती थीं (तत्) वह तुम्हारे भजनका (वः) तुम्हारे (साधुना) साधुत्व से (प्रतियातु) प्रत्युपकार हो ॥ २२ ॥

भाषार्थ—निर्दोष भजन करनेवाली तुम्हारे उपकारका बदला ब्रह्मा की आयुसे भी मैं नहीं कर सकता हूं, जो तुम सब ने दुर्जर-जीर्ण नहीं हो इस प्रकार की घररूप सांकर को काटकर मुझ को भजा है, इसलिये तुम्हारे भजन का बदला तुम्हारे साधुत्व से हो ॥ २२ ॥

(सुबो०) निरवद्यसंयुजां निर्दुष्टभजनयुक्तानाम् । स्वसाधुकृत्यं स्वप्रत्युपकारकरणम् । विबुधायुषा ब्रह्मायुषा । मन्वन्तरपरिमितायुषा वा । विशेषेण बुधानां ज्ञानिनामनन्तायुषा वा । न पारये । भजनप्रत्युपकारयोर्वैसादृश्यात् । भवतीनां भजनं निष्कपटम् । अस्मद्भजनं सकपटमिति । न ह्यल्पजलस्यापि तुल्यं बह्वपि मरुमरीचिकाजलं भवति । सत्यभजनं ब्रह्मणोऽशक्यमेव, जीवधर्मत्वात् । तत्रापि विशेषमाह या माभजन्निति । दुर्जरा हि गेहशृङ्खला, या जीर्यतोऽपि न जीर्यंत इति । तां संवृश्च्य छित्वा । याः भवत्यः प्रसिद्धाः । मा मामभजन् । यैः पूर्वं बद्धाः स्थिताः स्वार्थं तेषामर्थमात्मानं च मय्येव समर्पितवत्यः । बहिः शृङ्खला त्यक्तुमपि शक्या । नतु सर्वत आवृते गृहं शृङ्खला । एवमलौकिककर्त्रीणां यद् भजनं तद् भवतीनामेव । साधुना । भावप्रधानो निर्देशः । साधुत्वेन प्रतियातु, प्रत्युपकृतं भवतु । साधवो हि महत् कर्म कृत्वा स्वयमेव तुष्यन्ति, न तु प्रत्युपकारमपेक्षन्ते । अतो मयि भजनं नास्ति । भजनस्य जीवधर्मत्वात् । अतोऽग्रेऽपि यदि स्वत एव सन्तुष्टा, तदा भजत, नो चेत् यथासुखं विधेयमिति भावः । न ह्यशक्यं कश्चित् कर्तुं शक्नोतीति ॥ २२ ॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे एकोनत्रिंशाध्यायविवरणम् ॥

(निरवद्यसंयुजां) इसमें करता में क्विप् प्रत्यय है, निर्वद्यं-निर्दोष यथा स्यात्तथा-जिस प्रकार हो उस प्रकार (संयुञ्जन्ति) संयुक्त करती हैं, अर्थात् निर्दोष भजनयुक्त गोपियों का प्रत्युपकार ब्रह्मा की आयु से, अथवा मन्वन्तर परिमित आयु से अथवा विशेष करके ज्ञानियों की अनन्त आयु से मैं उपकारका बदला नहीं कर सकता हूं, कारण कि गोपियों का किया भजन और भगवान् के प्रत्युपकार में विलक्षणता है, दोनों समान नहीं हैं, गोपियों ने जो भगवान् का भजन किया है, वह निष्कपट किया है, और मैं भगवान् ने गोपियों का जो तुम्हारा भजन किया है वह कपटसहित किया है।

थोड़े, जलके भी तुल्य बहुतसा मारवाड़ की भूमि में मृगतृष्णा का जल नहीं होता है, अर्थात् मारवाड़ देश में कांस के ऊपर सफेद फूल को जल की तरह दूर से देखकर मृग जल जानकर दौड़ता है, किन्तु पास जाने पर हताश हो जाता है, अतः वातविक थोड़े जल की अपेक्षा बहुतसा मृगतृष्णाका जल अल्पजल के भी बराबर नहीं हो सकता है।

निष्कपट भजन तथा सकपट भजन में इतना इस प्रकार अन्तर है।

सत्य भजन जीवधर्म है, इसलिये सत्य भजन तो ब्रह्म के लिये अशक्य ही है।

उसमें भी भगवान् कहते हैं कि 'या मा भजन्' गृह-घर रूप शृङ्खला-सांकर दुर्जर है, जो वह घर रूप सांकर जीर्ण-पुरानी हो जाती है, तो भी जीर्ण नहीं होती है, प्रतिदिन अधिक नवीन होती जाती है, इस प्रकार की गेह शृङ्खला को काट करके (याः) प्रसिद्ध आप सब मुझको भजती थीं।

जिन पति पुत्रादि रूप सांकरों से पहिले तुम सब घर में बँधी हुई अपने स्वार्थ के लिये रहती थीं, उनके अर्थ को तथा आत्मा को मुझ में समर्पण कर दिया है।

कोई बाहरी लोहे की सांकर को छोड़ भी सकता है, किन्तु चारो ओर से आवृत होने पर घर रूप सांकर को छोड़ नहीं सकता है, इस प्रकार अलौकिक कार्य करने वाली तुम ने मेरा जो भजन किया है, उस भजन का साधुत्व से प्रत्युपकृत-बदला हो यहां 'साधुता' यह भावप्रधान पद का निर्देश है, अतः साधुता-अर्थात् साधुत्वेन इस प्रकार अर्थ है।

साधु पुरुष महत् कर्म करके स्वयं ही संतुष्ट होते हैं, प्रत्युपकार की अपेक्षा नहीं करते हैं, इसलिये मुझमें भजन नहीं है, मैं साधु पुरुषों का भजन नहीं करता हूं, कारण कि भजन करना जीवधर्म है, इसलिये आगे भी यदि तुम सब अपने साधुकृत्य से स्वतः ही संतुष्ट हो जाओगी तो मेरा भजन करो, नहीं तो-और जो अपने साधु कृत्य से संतुष्ट नहीं हो, तो तुमको जिस प्रकार सुख हो, उस प्रकार करना चाहिये, यह भाव है, कारण कि कोई भी मनुष्य अशक्य कार्य नहीं कर सकता है, ॥ २ ॥

इस उक्त बाईसवें श्लोक के आभास में श्री महाप्रभुजी कहते हैं कि 'भक्तिमार्गविरोधं परिहर्तुम्'।

भक्तिमार्ग का विरोध दूर करने के लिये भगवान् गोपियों की स्तुति करते हैं।

इस विषय का विचार गो० श्री विट्ठलनाथ जी टिप्पणी में करते हैं यदि शंका करो कि 'नाहं तु सख्यः' इस बीसवें श्लोक में 'जन्तु' पद से कहा है, कि भगवान् साधन मार्ग वाले भक्तों का भजन नहीं करते हैं, और प्रकृत-गोपियों के प्रसङ्ग में भगवान् गोपियों का परोक्ष से भजन करता है, तथा गोपियों की भगवान् में निरन्तर चित्त की वृत्ति रहे इसकी सिद्धि के लिये तिरोहित हो, जो गोपियों का परोक्ष भजन किया, उसमें कारण भगवदर्थ लोकवेद सगे संबंधियों का त्याग बतलाया है।

अतः गोपियों ने जो भगवान् का भजन किया है, उस भजन के अनुरूप भगवान् को गोपियों का भजन करना उचित है, किसी भी प्रकार की मर्यादा स्थापित करके गोपियों का भजन करना उचित नहीं है, अर्थात् गोपियों के भजनानुरूप भजन दासभाव से ही करना चहिये। उसमें ऐश्वर्यादि रूप किसी भी मर्यादा का स्थापन नहीं करना चाहिये। यदि भगवान् मर्यादा लेशमात्र भी स्थापन करते हैं तो भक्तिमार्ग विरोध प्राप्त हो जायेगा 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस वाक्य से भक्ति मार्ग में विरोध होता है, और गोपियों में जो दुःख का दर्शन हो रहा है, वह भी भगवान् ने गोपियों के भजन के अनुरूप भजन नहीं किया, इसीसे हो रहा है, इस प्रकारकी भक्त गोपियों को भगवान् का दुःख देना भक्ति मार्ग से विरुद्ध है।

इस प्रकार की शंका के उत्तर में कहते हैं कि यहाँ पर तुम्हारी शंका यह है कि भगवान् ने गोपियों के भजन के अनुरूप भजन नहीं किया है, इसमें हमारा कहना यह है कि भक्त के भजन के अनुरूप भजन करना तो प्रवाहिक धर्म रूप है, यह बात भगवान् में 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस गीता के श्लोक में कही है कि मेरे दिये फल की इच्छा करने वाले जिस प्रकार का भजन करते हैं, उस प्रकार का फल देकर में छुटकारा पा जाता हूं अर्थात् उनको फल देकर में निश्चिन्त हो जाता हूं। इस आशय से भगवान् ने 'ये यथा मां' इत्यादि में कहा है।

यदि कहो कि गीतावाक्य का यही आशय है, इसमें क्या प्रमाण है। तब इस शंकामें कहते हैं यहां 'यथा तथा' पादों में जैसा भक्त का भजन तैसा भगवान् का भजन, दोनों का एक स्वरूप कहा है, और गोपियों ने जो भगवान् का भजन किया है उसमें दास्य प्रकार है, वह दास्य प्रकार भक्त का ही धर्म है, ईश्वर में संभव नहीं होता है, ईश्वर कदाचित् दास्यधर्म करे भी तो वह अनुकरण की तरह होता है, किसी समय महाराज प्रसन्न हो कर अपने सेवक के अङ्ग का मर्दन करे तो वह दास नहीं हो जाता है, इसी प्रकार प्रकृत विषय—गोपियों के प्रसङ्ग में रसवश से मानिनी के चरण कमल के पराग का अनुराग करता हुआ भी पति ही है, दास नहीं होता है।

इस प्रकार से गोपियों के ऊपर भगवत्कृत प्रत्युपकृति का संभव होना तथा भजन के अनुरूप भजन करना कहां संभव होता है, अतः सिद्ध होता है कि यद्यपि गोपियों को प्रत्युपकृति की अपेक्षा थी, किन्तु भगवान् ने प्रत्युपकृति नहीं की इसलिये प्रत्युपकृति न करने से भगवान् में दोष का आरोप नहीं करना चाहिये, कारण कि प्रत्युपकार करना अशक्य है।

यदि कहो कि जब ईश्वर प्रत्युपकार करने में अशक्त है, तो फिर भगवान् ने जो गोपियों का परोक्ष भजन किया, वह भी घट नहीं सकता है, और प्रत्युपकार रहित भजन में जिसके द्वारा दुःख हो इस प्रकार का कार्य भी करना सम्भव नहीं होता है, अर्थात् जिन गोपियों के भजन का प्रत्युपकार नहीं हो सकता है, इस प्रकार की गोपियों का परोक्ष भजन करके भगवान् गोपियों को दुःख संपादन करे, यह बात भी संभव नहीं होती है।

इस शंका के समाधान में कहते हैं कि, भगवान् रसात्मक हैं, यह सिद्धान्त श्रुतिसिद्ध निर्विवाद है।

रस, (१) संयोग (२) विप्रयोग, भेद से दो प्रकार का है, इन दोनो प्रकारों में से एक प्रकार नहीं हो तो रस संपूर्ण नहीं होता है, इसलिये गोपियों को प्रभु ने संपूर्ण रस का दान दिया है, इसके अनन्तर गोपियों में दोषारोपात्मक व्यभिचारी भाव की उत्पत्ति हुई, अर्थात् गोपियों ने भगवान् पर दोष का आरोप किया, उस समय भगवान् ने व्यभिचारी भाव दोष की

शान्ति अपने वाक्यों से की, कारण कि दोष आगे रसानुभव में विरोधी है, इसलिये वचनोंसे शान्ति की, इस प्रकार को जानने से किसी प्रकार की शंका रहती नहीं है।

विप्रयोग के अभाव में रस पूर्ण नहीं होता है, इत्यादि कथन ने इस प्रकार की गोपियों को भगवान् ने दुःख दिया, यह भक्तिमार्ग से विरुद्ध है, इस शंका का भी निरास कर दिया है।

उक्त प्रकार सिद्ध होने पर प्रकृत विषय में दास्य प्रकार है, वह भक्त धर्म है, ईश्वर में संभव नहीं होता है, इत्यादि पहिले कहे अनुसार ईश्वरत्वही अशक्ति में—अर्थात् गोपियोंका भजन न करने में हेतु है, इस आशय से भगवान् ने 'न पारयेहं' इस २२ वें श्लोक में कहा है, इसी से श्री महाप्रभुजी ने सुबोधिनी में 'भक्तिमार्गविरोधं परिहर्तुं ताः स्तौति' भक्ति मार्ग का विरोध परिहार करने के लिये भगवान् गोपियों की स्तुति करते हैं।

यदि शंका करो कि इस २२ वें श्लोक में भगवान् ने अपने को ईश्वरत्व ही कहा है, गोपियों की स्तुति नहीं की है।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि (अयं भावः) यहां पर यह भाव है।

यद्यपि भगवान् ईश्वर है, इसलिए कही हुई रीति से प्रत्युपकार करना संभव ही नहीं होता है, तथापि भगवान् तर्क करके कहते हैं कि यदि, 'कथं चिदकरोः सचिवं दूतम्' भगवान् ने सचिव दूत का कार्य किया, इत्यादि स्थल में लीला से मुझ में दास्यप्राप्त हो जाये, तथापि तुम्हारा निरन्तर दास्य करने पर भी कभी भी तुम्हारे ऋण से मुक्त नहीं हूँ।

इस प्रकार प्रभु ने गोपियों का निरवधि उत्कर्ष कहा है, अब इससे अधिक गोपियों की कौन सी स्तुति है।

यदि उक्त प्रकार न हो तो 'विबुधा युषापि' ब्रह्म की आयु से भी तुम्हारे भजन का प्रत्युपकार मैं नहीं कर सकता हूँ, इस प्रकार के वाक्य भगवान् नहीं कहते, कारण कि 'स्वसाधुकृत्यं न पारये' तुम्हारे उपकार का बदला मैं नहीं कर सकता हूं, इतने से ही चरितार्थता हो जाती, फिर 'विबुधा युषापि' नहीं कहना था, इसलिये भगवान् ने सबसे अधिक गोपियों की स्तुति की है, इस प्रकार सिद्ध होता है।

यदि कहो कि पूर्वोक्त, अन्य भक्त साधारण की तरह मालूम पड़ता है। इस का स्पष्टीकरण करते हैं कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चार प्रकार के पुरुषार्थों की इच्छा करने वाले भक्तों को उक्त चार पुरुषार्थों का दान करना प्रत्युपकृति रूप है, तो भी जिसको आत्यन्तिक भक्ति योग प्राप्त हुआ है, उस भक्त को सेवा से अतिरिक्त-अन्य किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं रहती है, कारण कि सेवा स्वतन्त्र पुरुषार्थ है, फिर इस प्रकार के भक्त में क्या प्रत्युपकार शेष रह जाता है, जो किया जाये।

प्रकृत में—गोपियों के प्रसङ्ग में भी गोपियां दास्य से अन्य किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं करती हैं, इसलिये प्रत्युपकृति की संभावना नहीं होती है, फिर यहां क्या विशेष है, अर्थात् अन्य भक्तों की अपेक्षा गोपियों में क्या विशेष है।

इस शंका के विचार में कहते हैं कि (अत्रेदं प्रतिभाति) यहां यह मालूम पड़ता है, कि अपेक्षित वस्तु के दान से प्रत्युपकार का संभव नहीं होता है।

जो अपेक्षित वस्तुका दान देने से प्रत्युपकार संभव होता हो, तो स्वल्प-थोड़ा कार्य करके अधिक वस्तु की इच्छा रखता है, तथा बहुत कार्य करके थोड़ी वस्तु की इच्छा रखता है, इनके अर्थ

में–अर्थात् उसके लिये दीयमान अर्थ में व्यभिचार हो जायेगा, भजन करनेवाले के अनुसार भजन न करने से नियम भङ्ग हो जायेगा, अतः स्वरूप से पूर्व कृति के अनुरूप का अन्वेषण-खोजने योग्य है, इसमें अपेक्षा तथा अनपेक्षा प्रयोजक नहीं है, कारण कि स्वामिनियों के भजन के अनुरूप भजन करना ईश्वर में भी संभव नहीं होता है, फिर जीव में संभव न हो तो इसमें क्या बात है।

इस प्रकार प्रत्युपकृति का स्वरूप तथा गोपियों के भजन का स्वरूप निश्चय करके अब साधारण का परिहार करते हैं कि (यच्चोक्तं) जो पहिले कहा है कि जिसको आत्यन्तिक भक्ति योग प्राप्त हुआ है, उस भक्त को सेवा के बिना दूसरे पदार्थ की अपेक्षा नहीं रहती है, इत्यादि के विषय में भी कहते हैं कि वे लोग-आत्यन्तिक भक्तियोग प्राप्त हुए पहिले सकामत्व से-कामना सहित बुद्धि से अथवा नित्य कर्तव्य-कर्म बुद्धि ज्ञान से प्रवृत्त होते हैं, बीच में भगवान् के अनुग्रह से सेवा रस का अनुभव होने पर अपने स्वार्थ के लिये अन्य सर्वपदार्थ की अपेक्षा का त्याग करते हैं, भगवान् के लिये सर्व पदार्थों का त्याग नहीं करते हैं, इस प्रकार की उत्तरोत्तर सेवा संपादन करके केवल भगवत्सेवा से ही साध्य सुखदान ही उक्त प्रकार के भक्तों में भगवत्कृत प्रत्युपकृति है। और यहां गोपियों के विषय में तो (त्वदुपासनाशाः) भा० १०।२६।३८ आपकी सेवा करने की आशा से गृह आदि का त्याग करके हम सब आई हैं, 'एवं मदर्थोज्झितलोकवेद' भा०१०।२९।२१ इस प्रकार तुमने मेरे लिये लोकवेद, सगे-संबंधियों का त्याग किया है, इत्यादि वाक्यों से भगवान् की प्राप्ति से पहिले ही व्रजभक्तों ने गृह आदि का त्याग कर दिया।

व्रजभक्तों का प्रभु में सहज स्नेह है, इसलिये प्रभु के सुख में अपना उपयोग मानकर, प्रभुके उपयोग में जो प्रतिबन्ध था, उसको दूर करके अपने को भगवान् के लिये निवेदन किया; इसी से अ० २८ श्लो० १९ 'यत्ते सुजात चरणाम्बुरुहं स्तनेषु' इत्यादिवाक्य राजस तामसी गोपियों के यथावत् उपपन्न होते हैं, और 'एवं मदर्थोज्झित' इस श्लोक में 'स्वानां' इस पद से स्व का-आत्मा का त्याग भी कहा है।

स्वार्थ के लिये अन्य समस्त पदार्थों का त्याग तो लौकिक तथा अलौकिक पुरुषों में भी संभव होता है, किन्तु यथाकथंचित् भी 'स्व' आत्मा का त्याग लौकिक अलौकिक पुरुषों में सम्भव नहीं होता है, यहाँ 'स्व' पद का अर्थ आत्मा है।

गोपियों को अपनी आत्मा में, यह हमारी आत्मा है, इस प्रकार का भाव नहीं है, अर्थात आत्मा में स्नेह विषय अभाव ही गोपियों का आत्मत्याग है, कारण कि अपनी आत्मा तथा देह आदि भगवान् के उपयोगी हैं, इस भाव से आत्मा आदि गोपियों के स्नेह विषय हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि भगवान् के लिये गोपियों को आत्मा प्रिय है, अपनी आत्मा के लिये भगवान् प्रिय नहीं है।

खण्डिता मानिनी नायिका आदि के विषय में भी इसी प्रकार समझना चाहिये, कि जिस समय खंडिता मानिनी नायिकाओं द्वारा सम्पादन किये सुख को भगवान् अङ्गीकार नहीं करते हैं, उस समय खंडिता को दुःख होता है, और मानिनी को मान होता है, इसलिये जो भक्त भगवान् को सुख संपादन करता है, उसका प्रत्युपकार बदला कौन कर सकता है, अर्थात् कोई नहीं कर सकता है।

यदि शंका करो कि भगवान् को सुख देने के लिये जो साधन भगवान् सिद्ध करते हैं, उन साधनों को ही प्रत्युपकृति मान लो।

तो इसके उत्तर में कहते हैं कि यहां भाव ही साधन रूप है, वह भाव पहिले से ही गोपियों में था, अर्थात् पहिले भाव विद्यमान होता है, तब पश्चात् अन्य साधन होते हैं, पूर्व स्थित साधन,

भाव संपादन नहीं करते हैं, इसलिये भाव पूर्व कक्षापन्न है, और वह भाव स्वामिनियों में सदा एकरूप नित्य है, इसलिये उसका भाव का संपादन करनेवाला साधन, भगवान् कैसे कर सकते हैं।

दूसरी बात यह है कि जो कार्य भाव बल से ही होता है, उसमें भगवान् की कृति की अपेक्षा नहीं रहती है, कारण कि 'वशेकुर्वन्ति मां भक्त्या' भक्ति से भक्त मुझे वशमें करते हैं, भा० ९।४।६६ दुर्वासा के प्रसङ्ग में इस प्रकार वाक्य भगवान् ने कहा है, और भी कहा है कि 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति' कोई मेरी चरण सेवा में लगे हुए एकात्मता-सायुज्यमोक्ष भी नहीं चाहते हैं, इत्यादि प्रारम्भ करके जो सेवा रस में आसक्ति युक्त हैं, 'पश्यन्ति ते मे' ३। २५। ३५ वे सन्त मेरे स्वरूप रस का अनुभव करते हैं, इस प्रकार स्वरूपानुभव कहकर 'भक्ति रनिच्छतो मे गति मण्वीं प्रयुङ्क्ते भा० ३। २५। ३६ स्वरूप रस की नहीं इच्छा करने वाले इस प्रकार के भक्तों को मैं अणुगतिसायुज्य देता हूं, इसप्रकार कपिल देवने कहा है।

फिर यहां गोपियों का तो रसमार्ग की रीति से अङ्गीकार किया है, इसलिये गोपियों की इच्छा के प्रतिकूल कभी भी भगवान् की कृति संभव नहीं होती है, कारण कि वह रस इसी प्रकार का ही है। और एकबात यह है कि (पूर्वोक्त) अन्य भक्तों का मार्ग धर्ममार्ग है, और गोपियों का मार्ग धर्मीमार्ग है, इसलिये अन्य भक्तिमार्गों से इतना विशेष है।

जिस प्रकार खद्योत-पट बाजनाओं से सूर्य की विशेषता हैं, उसी प्रकार अन्य मार्गों से पुष्टिमार्ग-गोपियों के मार्ग की विशेषता है, इसकी विशेषता कैसे कह सकते हैं, अतः भगवान् ने ठीक कहा है कि 'न पारये' तुम्हारा बदला मैं ब्रह्मा की आयु से भी नहीं कर सकता हूं।

यद्यपि गोपियों ने जो घररूप सांकर का छेदन किया है, वह भाव के स्वभाव का कार्य है, अर्थात् भावबल से किया है, और वह भाव भगवान् के अनुग्रह से हुआ है, इसलिये घररूप शृंखला का काटना भी भगवान् ने ही कराया है, इसमें गोपियों की श्रेष्ठता नहीं आती है, तथापि गोपियों के लिये ही इस प्रकार का भाव भगवान् ने दिया है, अन्यभक्तों को नहीं दिया है, यही गोपियों का उत्कर्ष है, जिस उत्कर्ष के कारण गोपियों के लिये ही भगवान् ने भावदान किया, उससमय इस भावदान को ही प्रत्युपकृति रूपत्व भगवान् ने कहा है।

यदि कहो कि भावदान ही प्रत्युपकृति रूप है, तो फिर भगवान ने 'न पारयेऽहं' कहा है, वह युक्त नहीं होगा। उलटा इस प्रकार का भावदान गोपियों के लिये करनेवाले भगवान् में प्रत्युपकार करना संभव नहीं होगा, विपरीतता प्राप्त हो जायेगी, अर्थात् प्रत्युपकार करने में अशक्यत्व प्राप्त हो जायेगा।

उक्त शंका के उत्तर में कहते हैं कि (अत्रेदं प्रतिभाति) यहां यह जान पड़ रहा है कि प्रभु पूर्ण अखिल शक्ति पूर्ण हैं, तोभी वह जिस कार्य को नहीं करता है, करने में अशक्त होता है, उस कार्य का जगत् में अत्यन्ताभाव ही हो नहीं सकता है, यह निश्चय है।

जैसे भगवान् सर्वसामर्थ्यवान् है तो भी दूसरा ईश्वर करने का सामर्थ्य नहीं है, इसी से प्रभु ने कहा है कि 'जन्मकर्माभिधानानि सन्ति मेऽङ्ग सहस्रशः' न शक्यन्तेऽनुसंख्यातुमनन्तत्वान्मयापि हि" मेरे जन्म कर्म नाम हजारों हैं, उनकी गणना मैं अनन्त होने के कारण नहीं कर सकता हूं, यह वाक्य भगवान् ने मुचुकुंद के प्रति दशम उत्तरार्द्ध अ० ५१। श्लो० ३७ में कहा है, अर्थात् जिस प्रकार मेरे जन्म कर्म आदि अनन्त होने से मैं गणना नहीं कर सकता हूं, उसी प्रकार मुझ में सर्वसामर्थ्य होते भी द्वितीय ईश्वर करने के लिये असमर्थ हूं।

प्रकृत-गोपियों के विषय में तो गोपियों का केवल भाव रसात्मत्व से भगवदात्मक-भगवद्रूप है, इसलिये इस भगवद्रूप भाव के अनुरूप वस्तु न होने के कारण भगवान् में प्रत्युपकार करने की अशक्ति होनी ही निर्विवाद सिद्ध माननी चाहिये ।

यदि इस प्रकार प्रत्युपकार करने में अशक्यत्व नहीं मानते हैं, अर्थात् भगवद्रूप भाव के अनुरूप वस्तु मानते हैं तो भगवान् का ईश्वरत्व ही नहीं रहे, कारण कि अनुरूप वस्तु की सत्ता होनेपर 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' भगवान के समान तथा अधिक कोई वस्तु नहीं दीखती है ।

इस श्रुति में कहा भगवान् का रूप सिद्ध नहीं हो सकेगा, इस प्रकार जानो । और पहिले जो दूषण कहा कि इस प्रकारका भाव देनेवाले भगवान में प्रत्युपकृति असंभव होने के कारण विपरीतता प्राप्त हो जायेगी, अर्थात् विपरीतता प्राप्त का आशय यह है कि यद्यपि स्वामिनी संयोग विप्रयोग में भावात्मक रसात्मक प्रभुको अनुभव कराती हैं, उसी प्रकार स्वामिनियों को भी भगवान् अनुभव कराते हैं इसलिये स्वामिनियों के भजन के अनुरूप भजन करने की प्रभु में अशक्ति नहीं है, तथापि 'एवं मदर्थोज्झित' इस २१ वें श्लोक में गोपियों का त्याग भी कहा है, इसलिये अपनी प्रत्युपकृति अपने ही आत्मगामी होती है, इसलिये प्रत्युपकार करने की अशक्ति निर्विवाद माननी चाहिये ।

इसके उत्तर में कहते हैं कि कर्म, ज्ञान तथा साधन मार्गीय भक्तिमर्यादा मार्गीय भक्ति ये तीनों मार्ग भगवान् ने जीवों के लिये किये हैं, और फल मार्गीय भक्तिमार्ग तो (पुष्टिमार्ग तो) अपने लिये प्रकट किया है ।

यदि फलात्मक भक्तिमार्ग भगवान प्रकट न करते तो रसात्मक स्वरूपानन्द का अनुभव अपने को नहीं होता, 'तस्मादेकाकी न रमते' कारण कि अकेले से रमण नहीं होता है, यह श्रुति कह रही है, इसलिये भावदान आदि से भी स्वार्थ ही कहा है, अर्थात् गोपियों को जो भावदान भगवान ने किया है, वह भी अपने स्वार्थ के लिये किया है, अतः कहा हुआ वैपरीत्य दूषण भी भगवान में नहीं है ।

यदि कहो कि भावदान भी भगवान ने अपने स्वार्थ के लिये ही दिया है तो भी 'न पारयेऽहं' यह युक्त नहीं होता है, अर्थात् भगवान ने स्वरूपात्मक आनन्द अपने भोग के लिये स्वामिनियों में स्थापन करके स्वयं भोग किया, तो स्वामिनीकृत उपकार का अभाव होने के कारण 'न पारयेऽहं' इस प्रकार का कथन युक्त नहीं होता है ।

इस उक्त शंका के उत्तर में कहते हैं कि यह आनन्द स्वरूपात्मक है, तो भी इन स्वामिनियों के द्वारा ही इस आनन्द का अनुभव भगवान को होता है, तथा अनुभूत-अनुभव की हुई वस्तु ही इस प्रकार की है जो गोपियों द्वारा ही इस वस्तु का अनुभव होने से भगवान का इस प्रकार का कथन है कि 'मैं तुम्हारे उपकार का बदला नहीं कर सकता हूं' भगवान का इस प्रकार का कथन रसात्मक आनंदमय स्वरूप का ही निरूपण करने वाला है, (यथा) जिस प्रकार "यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम्, विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्" यहां वस्तु स्वरूप का निरूपण किया है, अर्थात् जिस प्रकार तृतीयस्कंध अ० २।१२ में उद्धवजी ने विदुरजी से वस्तुस्वरूप निरूपण किया है, इसमें भगवान का सौंदर्य सर्वदा विस्मय कराने वाला है, तो भी अपने को विस्मय करानेवाला जो कहा है वह दर्पण आदि देखने से जिस प्रकार अपने सौंदर्य को देखकर विस्मय होता है, उसी प्रकार यहां भगवान को विस्मय कराने वाला वस्तु स्वरूप निरूपण किया है ।

उसी प्रकार भगवान् का रसात्मक स्वरूप श्रुतिसिद्ध सर्वदा ही है, तथापि जिस समय स्वामिनियों के सम्बन्ध से भगवान् रस का अनुभव करते हैं, उस समय रसात्मक स्वरूप का अनुभव होने से अपने को विस्मय होता है ।

इस प्रकार सर्व शंकाओं का परिहार करके 'न पारयेऽहं' इसमें कहा सर्व निर्दोष है ।

यहां श्लोक के पूर्वार्ध से ही गोपियों की स्तुति हो जाती है, फिर श्लोक के उत्तरार्ध कथन का तात्पर्य कहते हैं कि मूल सुबोधिनी में कहा है कि (अतो मयिभजनं नास्ति) यहां उपकृति को ही प्रत्युपकृति रूप कहा है, इसलिये उपकृति से भिन्न प्रत्युपकृतिकी अपेक्षा में सोपाधिक भजन कार्य होता है, अर्थात् प्रत्युपकार की अपेक्षा करने से भजन करने पर ही सोपाधिक भजन संभव होता है, इस बात को श्री महाप्रभु जी ने 'नो चेत्' से कहा है, अर्थात् यदि आप सब को इस समय प्रत्युपकार की अपेक्षा हुई है, तो 'यथा सुखं तथा भजनं विधेयम्' जिस प्रकार आप सब को सुख हो उस प्रकार का भजन करना चाहिये, उसी प्रकार में भी प्रत्युपकार के लिये भजन करूंगा, तथापि मेरा प्रत्युपकार नहीं होगा, कारण कि आप सब में असंभावित है, अशक्य होने के कारण, अशक्य कोई कर नहीं सकता है, प्रत्युपकृति अशक्य में यहां सोपधिभजन का असंभावना रूप भगवन्निष्ठ भी हेतु है, इस प्रकार जानना चाहिये ।

भगवान में स्वामिनी विषयक सोपधिभजन संभव नहीं है, इसलिये प्रत्युपकृति करना अशक्य है ॥ २२ ॥

इति श्री भागवत सुबोधिनी श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मज श्रीमद्वल्लभदीक्षित विरचित दशमस्कंध २९ वें अध्याय का उपलब्ध साहित्य सहित मथुरास्थ जगन्नाथ चतुर्वेदीकृत भाषा विवरण पूर्ण हुआ

अथ पञ्चमोऽध्यायः

(श्रीमद्भागवत सुबोधिनीफलप्रकरण पञ्चम अध्याय ३०)

(सुबोधिनी कारिका)

त्रिंशत्तमे हरिः प्रीतो लीलां कामकृतामपि ।
इन्द्रादिदुर्लभां चक्रे स्वानन्दार्थमितीर्यते ॥ १ ॥

अस्याः सर्वोपकाराय फलश्रुतिरुदीर्यते ।
लौकिक्यपि यदा दृष्टिस्तदा सिद्धान्त ईर्यते ॥ २ ॥

रसात्मकस्तु यः कामः सोत्यन्तं गूढ एव हि ।
अतः शास्त्रं प्रवृत्तं हि तृतीयं भारतं तथा ॥ ३ ॥

अतोऽत्र भगवांश्चक्रे नृत्यं कारितवांस्तथा ।
सर्वाङ्गेषु तु यो लीनः स यथा व्यक्ततां व्रजेत् ॥ ४ ॥

जलं वायुश्च सामग्री श्रमात् शीताच्च जायते ।
अत्रैव लोके प्रकटमाधि दैविकमुत्तमम् ॥ ५ ॥

कामाख्यं सुखमुत्कृष्टं कृष्णो भुङ्क्ते न चापरः ।

तीसवीं अध्याय में हरि ने प्रसन्न होकर इन्द्र आदि देवताओं को दुर्लभ अलौकिक प्रकार से तथा शास्त्र में कही लौकिक प्रकार से लीला अपने आनन्द के लिये लोक में प्रकट की है, उस लीला का वर्णन शुकदेवजी करते हैं ॥ १ ॥

'तासामाविरभूत्' इस २९ वें अध्याय के दूसरे श्लोक के आभास में 'कृष्ण एव जातः' भगवान् ब्रह्मा विष्णु रुद्र होकर पुनः कृष्ण ही हो गये, इससे यह कहा है कि गोपियों में अपना सत्तानंद भगवान् ने स्थापन किया है, इस समय इस प्रकार की लीला करने में प्रीतिहेतु कहा है ।

प्रीति आनन्द धर्म है, इसलिये प्रीतियुक्त लीला की है । तब इसका इस प्रकार अर्थ होता है कि गोपियों में अपना सत्तानंद स्थापनपूर्वक लीला की है, प्रथम २९ वें अध्याय की अपेक्षा यह बात यहां विशेष है, यहाँ 'इतीर्यते' इसमें 'इति' शब्द हेतु-वाची है, 'लीलां चक्रे' इस में (लोके प्रकटां) इस प्रकार शेष और जोड़ना चाहिये, तब वाक्यार्थ इस प्रकार हुआ कि यद्यपि भगवान् की यह लीला अतिगोप्य है, अत्यन्त गुप्त रखने योग्य है, इसका वर्णन करना उचित नहीं है तथापि प्रभु ने लोक में प्रकट लीला की है, इस हेतु से इस अध्याय में वर्णन की जाती है, यदि उक्त बात न होती तो श्रीमहाप्रभुजी कारिका में 'इति' पद न कहकर 'रासलीलेर्यते' इस प्रकार कहते ।

यह लीला दो प्रकार की है, (१) एक अलौकिक चंद्र प्रकाशवाली रात्रियों में अलौकिक प्रकार वाली लीला, जिसका वर्णन इस तीसवीं अध्याय में 'यथा मदच्युद्द्विरदः करेणुभिः' इस २५ वें श्लोक तक किया है ।

इसके आगे काव्यकथा पद में अतिदेश से दूसरी लीला कामशास्त्र में कही रीति के अनुसार लौकिक चंद्र प्रकाशवाली रात्रियों में लौकिक प्रकार की है, इसका वर्णन 'एवं शशाङ्कांशु' इस अध्याय के २६ वें श्लोक में किया है ।

इन्द्र विषय भोग में अधिकारी है, इसलिये मूल में इन्द्र का नाम लिया, है, वास्तव में तो ब्रह्मादि देवताओं को भी यह लीला दुर्लभ ही है ।

कामशास्त्र के अनुसार की हुई लीला लोक का अनुसरण करने वाली है, अर्थात् जिस प्रकार लोक में पुरुष करते हैं, उस प्रकार भगवान् ने की है, इस प्रकार जहाँ कामशास्त्रानुसार लोक रीति से की हुई लीला भी इन्द्रादि देवताओं को दुर्लभ है, तो फिर अलौकिक लीला इन्द्रादि देवताओं को दुर्लभ हो तो इसमें क्या कहना है ॥ १ ॥

सर्वलोकों के ऊपर उपकार करने के लिये इस लीला के फल का वर्णन पीछे के श्लोक में किया है, इस लीला में कदाचित् लौकिक दृष्टि हो जाये तो इस विषय में सिद्धान्त का वर्णन किया है ॥ २ ॥

उक्त लीला के वर्णन में फलश्रुति की सङ्गति नहीं होती है । इस शका के समाधान में कहते हैं कि 'अस्याः सर्वोपकाराय' इस लीला की 'विक्रीडितं व्रजवधूभिः' इत्यादि से जो फलश्रुति कही है वह सङ्गत नहीं होती है, इसमें कारण यह है कि लोक में काम-कथा होती है, और वह काम की वृद्धि करती है, इस प्रकार देखा गया है, इसलिये काम-वृद्धि की शंका से वैराग्य की इच्छा करने वाला कोई पुरुष कदाचित् भगवान् की इस लीला का श्रवण नहीं करे, तथा भक्ति की इच्छा करने वाला भी विचार करे कि माताओं की रहस्यवार्ता सुनना उचित नहीं है, इसके श्रवण से चित्त में वैषम्य रूप महान् दोष उत्पन्न हो जायेगा, इसी प्रकार की शंका से भक्त भी श्रवण नहीं करेंगे. अवशेष विषयी पुरुष रहे, यदि विषयी पुरुष ही लीला का श्रवण करेंगे, भगवान् की लीला जब हीनाधिकारी विषयी पुरुष ही श्रवण करेंगे तो इस लीला की उत्तमता नहीं होगी ।

उक्त सर्व शंकाओं के परिहार के लिये, तथा सबकी निःशंक श्रवण में प्रवृत्ति सिद्ध करने के लिये फलश्रुति अन्तिम में कही है, कि विषयी लोग भी प्रथम विषय का वर्णन जान करके विषय भावना से श्रवण करते हैं, तो भी इस लीला के स्वभाव से ही, उनके दोष निवृत्तिपूर्वक स्वरूप में परम पुरुषार्थ की प्राप्ति हो जायेगी, इसी बात को कारिका में कहा है कि (लौकिक्य-पि यदा दृष्टिः) ।

जो कोई इस लीला के करने से भगवान् में दोष दृष्टि करे तो उसका समाधान अन्त में परीक्षित का प्रश्न और शुकदेवजी के उत्तर का तात्पर्य जानकर दोषदृष्टि का निरास कर ले ।

भगवान् ने गोपियों को सर्वथा प्रपन्न देखकर जो देने के योग्य ही नहीं, उस स्वरूपानन्द का दान दिया है, इस प्रकार की वस्तुस्थिति है ।

भगवान् रसात्मक हैं, और सब गोपियां भगवान् के रसात्मक स्वरूप में स्थित हैं ।

यदि गोपियों का प्रथम अन्य गोपों के साथ विवाह न हुआ होता तो रस का स्वरूप ही संभव नहीं होता कारण कि इस रस स्वरूप की मर्यादा इस प्रकार की है ।

इस प्रकार के अर्थ में किसी की बुद्धि में यह बात हो कि भगवान तथा व्रज भक्त दोनों की प्रवृत्ति लीला में विषयभाव से हुई अनुचित है।

इस प्रकार की शंका करने वाले की वास्तविक रीति से तो उपेक्षा ही करनी चाहिये, तथापि प्रभु सबका उद्धार कारने वाले हैं, इसलिये उक्त दोष बुद्धि वाले की अलौकिक बुद्धि जिस प्रकार से हो जाती है, उस प्रकार को कहना चाहिये, यह परीक्षित के 'संस्थापनाय' प्रश्न का तात्पर्य है।

श्री शुकदेवजी ने 'दुर्जन भी प्रसन्न हो जाये' इस न्याय से शंका करने वाले परीक्षित को उत्तर दिया है।

यदि इस प्रकार नहीं मानते हैं तो आगे 'गोपीनां तत्पतीनां च' इस छत्तीसवें श्लोक में भगवान् ने जो परस्त्री का समागम किया, उस दोष का निरास किया है, किन्तु परस्त्री समागम दोष भगवान् को लगता नहीं है, इसलिये 'तेजीयसां न दोषाय' इस प्रकार तीसवें श्लोक में जो दोष का निषेध किया है, वह अयुक्त हो जाये, तथा 'नैतत्समाचरेत्' इस इकतीसवें श्लोक में कहा है, वह भी अयुक्त हो जाये, इस प्रकार 'कुत एव बन्धः' इस पैंतीसवें श्लोक तक शुकदेवजी ने लोकमत के अनुसार उत्तर दिया है, इससे आगे छत्तीसवें श्लोक से वस्तुस्थिति के अनुसार उत्तर दिया है यह भाव है॥ २॥

रसात्मक काम अत्यन्त गूढ है, इसलिये उसके प्रकट करने के लिये तीसरा शास्त्र-कामशास्त्र तथा भरत मुनि प्रणीत भारतनाट्यशास्त्र प्रवृत्त हुआ है॥ ३॥

अब श्री महाप्रभुजी भगवान् के अलौकिक प्रकार के रमण में नृत्य बंध आदि का उपयोग कहते हैं कि 'रसात्मकस्तु यः कामः' तीनों लोकों में रसात्मक काम गूढ ही है, देवता आदि भी काम से रस उत्पन्न करते अनुभव करते हैं, परन्तु उनका रसात्मक काम नहीं है, उसमें भी रस का लेश अंश मात्र का ही अनुभव करते हैं, रस का अनुभव नहीं करते हैं—

रस शब्द से आनन्द जानना चाहिये, कारण कि श्रुति प्रतिपादन करती है,

'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' ब्रह्म के आनन्द की मात्रा से ही अन्य समस्त प्राणी जीते हैं। इसलिये भगवान् किस प्रकार के रस का अनुभव करते नहीं है, इस प्रकार की जिज्ञासा में कहते हैं कि भगवान् जिस रस का अनुभव करते हैं, वह रस कहीं भी नहीं है, अतः निरुपम होने के कारण उसको कोई जान नहीं सकते हैं, इसी से भगवान् जिस रस का भोग करते हैं, वह अत्यन्त गूढ़-गुप्त है, कारण कि 'रसो वै सः' इस श्रुति के कथनानुसार स्वरूप से अभिन्न रूप है, अर्थात् स्वरूपात्मक है, उस गूढ रस के बोध करने के लिये वात्स्यायन, तथा भरत की प्रवृत्ति है, इसी बात को कारिका में कहा है कि 'अतः शास्त्रं प्रवृत्तं हि तृतीयं भारतं तथा' तृतीय वात्स्यायन प्रणीत कामशास्त्र, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चारो पुरुषार्थों में तृतीय कामशास्त्र है, इसलिये, तृतीय कहा है।

नायक के स्वरूप में काम की स्थिति है, और नायिकाओं के एक-एक अङ्ग में काम की स्थिति है, इस प्रकार भेद कामशास्त्र में कहा है।

'भारतं, भरत कृत सूत्र हैं।

वह अलौकिक आनन्द रूप रस सर्वाङ्ग में गुप्तरीति से स्थित है, इसलिये गुप्तरस के प्रकट करने के लिये भगवान् स्वयं स्वामिनियों के साथ नृत्य करते हैं, तथा कराते हैं॥ ३॥

रमण करने में श्रम होता है, इसलिये श्रम से तथा शीत से जल और वायु सामग्री रमण में होती है।

यदि कहो कि नृत्य तथा बन्ध से उद्बुद्ध-जाग्रतरस से भोग संपन्न ही है, तथा स्वरूप से ही आनन्द दान भगवान करते हैं, तो फिर 'ततश्च कृष्णो पवने' इस पच्चीसवें श्लोक में वर्णित जल तथा वायु का कहां पर उपयोग होगा।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'जलं वायुश्च' रमण, जल तथा स्थल के भेद से दो प्रकार का है, जल के रमण में जल सामग्री होती है, और स्थल के रमण में वायु सामग्री होती है, ये दोनों सामग्री इसलिये रमण में उपयोगी हैं कि स्वामिनी तथा भगवान दोनों को श्रम होता है, इसलिये जल और वायु दोनों सामग्री रमण में अपेक्षित हैं।

उक्त दोनों सामग्री जल तथा वायु शीतल ही अपेक्षित होती हैं। इसलिये शीतत्व, जल में तथा वायु में हेतु सामग्री होने में कहा है।

तब इस प्रकार कारिका का अर्थ करना चाहिये कि जल तथा वायु रमण में श्रम तथा शीतत्व हेतु से सामग्री होते हैं, 'सोम्भस्यलं' इस २४ वें श्लोक में जलक्रीडा तथा 'ततश्च कृष्णो-पवने' इस २५ वें श्लोक में स्थलक्रीडा का वर्णन है।

कारिका में 'जायते' इसपद से ज्ञापन किया है कि यह अपूर्व सामग्री भगवल्लीलार्थ ही उसी समय उत्पन्न होती है।

मूल कारिका में 'शीतात्' यह पद भाव प्रधान है, अर्थात् शीतत्त्वात्, इस प्रकार है॥४½॥

अब इसलीला करने का प्रयोजन् कहते हैं 'अत्रैव लोके प्रकटम्' इस लोक में आधिदैविकरूप जीवों का जिस प्रकार प्रकट हो जाये, यह लीला करने का प्रयोजन है, अर्थात् आधिदैविक जीवों का रूप कामरहित लौकिक वासनात्मक लिङ्गरहित हो जाता है, कारण कि 'कामं हृद्रोगमाश्वप-हिनोति' इस वाक्य में लिङ्ग भङ्ग का फल कहा है, इसलिये लौकिक लिङ्ग भङ्गरहित ही आधिदैविक रूप है।

अब उक्त कारिका का इस प्रकार अर्थ होता है कि जीवों का आधिदैविक रूप इसी लोक में प्रकट जिस प्रकार से हो, उस प्रकार से कामाख्य उत्तम-उत्कृष्ट सुख का कृष्ण भोग करता है।

उत्तम काम सुख तो मोक्ष में भी होता है, किन्तु यहां तो क्षर अक्षर से उत्तम पुरुषोत्तम का मोक्ष सुख से भी उत्कृष्ट सुख है, स्वरूपात्मक नहीं है, कामसुख भगवान् का ही स्वरूप है, अतः भगवत्स्वरूप बिना अन्य कोई इसका भोग नहीं कर सकता है।

भूतल में इस लीला के प्रकट करने का कारण यह है कि इस लोक में ही जीवों का आधिदैविक रूप प्रकट हो जाये।

जीव का आधिदैविक रूप प्रकट होने पर ही भगवान् का साक्षात् भजन कर सकता है।

वैसे तो इस प्रकार का भजन व्यापि वैकुण्ठ में होता है, परन्तु भगवान् ने कृपा करके इस लोक में ही जीव आधिदैविक रूप प्राप्त करके भगवान् का साक्षात् भजन कर सके, इसके लिये यह लीला की है, और जो कोई भी पुरुष भगवान् की इसलीला का श्रवण करेगा, वह भी आधिदैविक स्वरूप प्राप्त करके भगवान् के साक्षात् स्वरूप का अनुभव करेगा।

अब यहां कोई यदि शंका करे कि भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र बनाया, तथा वात्स्यायन मुनि ने कामसूत्र बनाया, इन दोनों ने जीव के लिये बनाया है, कारण कि वात्स्यायन ने शास्त्र की समाप्ति

में कहा है कि 'तदेतद् ब्रह्मचर्येण परमेण समाधिना । विहितं लोक, यात्रार्थं न रागार्थोऽस्य संविधिः' कामसूत्र ७।२।५७ मुझ गौतम ने ब्रह्मचर्यपूर्वक परम समाधि से यह रसशास्त्र-कामशास्त्र कहा है, यह शास्त्र लोकनिर्वाह-व्यवहार के लिये तथा 'यात्रार्थ' रस रूप भगवत्प्राप्ति के लिये कहा है, राग के लिये इस कामशास्त्र की विधि नहीं है, यही प्रकार भरत के नाटचशास्त्र में भी जानना चाहिये ।

और ब्रह्मा जी ने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारो पुरुषार्थों का वर्णन एक लाख अध्यायों में किया है, यह बात भी कामसूत्र में १–१–५में कही है, इस प्रकार कामशास्त्र तथा नाटचशास्त्र में कही रसके प्रकट करने वाली प्रणाली को स्वीकार करने में रस को भगवद्रूपता नहीं रहती है, और रस को भगवद्रूपता स्वीकार करने में उक्त शास्त्र प्रणाली जीव के लिये होने के कारण व्यर्थ हो जाती है, इसलिये मूल से विरोध है ।

इस प्रकार दोनों प्रकार से पाशा रज्जु है, इस प्रकार पूर्व पक्ष का तात्पर्य है, जबकि काम-शास्त्र आदि की रीति से प्रवृत्त जीव को भी उत्तम आनन्द मिलना संभव होता है, फिर भगवान् की लीला में कुछ विशेष आनन्द मिलना शेष नहीं रहता है ।

यदि कहो कि भगवल्लीला में प्रभु का स्वरूप ही विशेष है, तो इस प्रकार कहना ठीक नहीं है, कारण कि प्रभु स्वयं उद्बुद्ध-प्रकट रसात्मक हैं इसलिये फिर रस प्रकट करनेवाली सर्व सामग्री का प्रयोजन रहता नहीं है, किन्तु भगवल्लीला में रसोद्बोधक सामग्रीका वर्णन किया है, इसलिये प्रभु ने भी लोक का अनुसरण करके लीला की है, स्वरूप की प्रधानता से लीला नहीं की है, इस प्रकार मालूम होता है, इसलिये स्वरूप को भी विशेष नहीं कह सकते हो ।

इस शंका का समाधान करते हैं कि (मैवं) इस प्रकार मत कहो, कारण कि यहां मूल कामशास्त्र आदि में तथा कारिका में भगवान् के रसात्मक स्वरूप का ही वर्णन है ।

यह भगवान् का रसात्मक स्वरूप उद्बोधक-रस प्रकट करने वाली सामग्री सहित ही प्रकट हुआ है, केवल स्वरूप ही प्रकट नहीं हुआ है ।

यदि इस प्रकार नहीं मानते हैं तो भगवान् का स्वरूप रसात्मक नहीं हो, कारण कि भगवान का स्वरूप ही रसात्मक है ।

भगवान के इस रसात्मक स्वरूप का विशेषता से भान अपने में अज्ञान होने के कारण नहीं हो सकता है, इसलिये भगवान के रसात्मक स्वरूप का ज्ञान होने के लिये, भरतमुनि तथा वात्स्या-यन मुनि ने अपने-अपने शास्त्रों में भगवान के रसात्मक स्वरूप का वर्णन किया है, इसी से भगवान ने भरत वात्स्यायन शास्त्र के अनुसार नृत्य तथा रमण किया है ।

और जगत् के जीव तो जिस प्रकार ब्रह्म पर श्रुतियों को जीव पर लगाते हैं, उसी प्रकार भरत मुनि प्रणीत नाटचशास्त्र तथा वात्स्यायन मुनि प्रणीत कामसूत्र को जीव पर जानकर प्रवृत्त हो केवल क्लेश पाते हैं, इस प्रकार जानना चाहिये । इसी बात को कारिका में श्री महा प्रभु जी कहते हैं, कि 'कृष्णो भुङ्क्ते न चापरः' कृष्ण के अतिरिक्त इस क्षर अक्षर से उत्तम पुरुषो-त्तमात्मक सुख को अन्य कोई नहीं भोग सकता है।

श्रुति में 'असद्वा इदमग्र आसीत्' 'ततो वैसदजायत' 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' 'तस्मात्त-त्सुकृतमुच्यते' इति 'यद्वै तत्सुकृतम्' 'रसो वै सः' 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' तैत्ति-रीय० २–७ ।

यह प्रथम असत् था, इसमें से सत् उत्पन्न हुआ, ब्रह्म स्वयं आप जगद्रूप हुआ, इससे वह सुकृत कहा जाता है, जो यह है वह सुकृत है, परमात्मा रस है, जीव इस रस को प्राप्त कर के आनन्दी होता है, इस प्रकार श्रुति में प्रथम सृष्टि को असत्, असाधु-खराब कहा है, पश्चात् दूसरी सृष्टि को सत्-साधु-अच्छी कहा है, दूसरी सृष्टि को साधु कहने का कारण यह है कि यह सृष्टि ब्रह्मरूपा है, ब्रह्मसुकृत है, सुकृत, रस है, रसको आनन्द रूप कहा है, इस प्रकार दूसरी सृष्टि में रस प्रकट करने वाली सामग्री आदि प्रणाली विवक्षित नहीं हो । अर्थात् सामग्री आदि पद्धति की आवश्यकता नहीं हो, तो भगवान ने स्वयं अपनी आत्मा को सृष्टिरूप किया है, इस प्रकार श्रुति नहीं कहती ।

यदि दूसरी सृष्टि अन्य सर्व सृष्टि की तरह होती तो पूर्व सृष्टि को असाधु-खराब नहीं कहती, और दूसरी सृष्टि को साधु-अच्छी है, इस प्रकार श्रुति नहीं कहती ।

यदि श्रुति में कहा रस मनका विकार, अथवा रस लौकिक होता, तो भगवान ने अपनी आत्मा सृष्टिरूप से प्रकट की, और रस आनन्दरूप है, इस प्रकार भी श्रुति नहीं कहती । अतः भगवान का जो स्वरूप प्रकट हुआ है, वह रस प्रकट करने वाली सामग्री सहित प्रकट हुआ है ।

इस प्रकार यह उद्बोधक आदि विशिष्ट भगवान का स्वरूप श्रुतिसिद्ध है । इसी बात को श्री गो० विट्ठलनाथजी ने टिप्पणी में कहा है कि 'तत्स्वरूपस्यैव तथात्वादित्यन्तेन' कारण कि भगवान का स्वरूप ही रसात्मक है, अतः रस प्रकट करने वाली सामग्री आदि प्रणाली अङ्गी-कार करने पर भी रस के भगवद्रूपत्व होने में कोई हानि नहीं है ।

दूसरी बात यह है कि 'ब्रह्मसूत्र अनुकृत्यधिकरण १–२।२२-२३ में कहा है कि सर्व पदार्थ भगवान का अनुकरण करते हैं 'तमेव भान्तमनुभाति विश्वम्' इस विषय को वाक्य में कहा है कि प्रकाशमान परमात्मा का अनुकरण करके विश्व प्रकाश करता है, इसलिये वात्स्यायन मुनि प्रणीत कामशास्त्र तथा भरत मुनि प्रणीत नाटचशास्त्र में यदि लौकिक रस का प्रतिपादन किया है, तो भी मूल भगवद्रस का अनुकरण करके ही लौकिक रस का स्वरूप सिद्ध होता है, कारण कि लौकिक रस के दृष्टान्त से जीवों को अलौकिक भगवद्रस का अनुमान हो जायेगा ।

लौकिक रस परिच्छिन्न है, परिमित है, कारण कि श्रुति कहती है कि जीव भगवान् के आनन्द की एक मात्रा से ही जीता है, और अलौकिक भगवद्रस अपरिच्छिन्न-परिमित नहीं है कारण कि अलौकिक भगवद्रस सर्वत्र व्यापक है, लोक में अनुकरण मात्र से भगवद्रस का आभास ही प्रकट होता है, भगवद्रस प्रकट नहीं होता है और न जीव का ही रस प्रकट होता है ।

लौकिक रस का अनुभव करने में भी भगवद् रस के संबंध का लेशमात्र नहीं है ।

वात्स्यायन तथा भरतमुनिने कामशास्त्र तथा नाटचशास्त्र का जो निर्माण किया है, वह परोक्ष रीति से भगवद् रस का ही ज्ञान कराने के लिये किया है, यह बात उनके रचित शास्त्र से ही स्फुट है, स्पष्ट है, वास्तव में तो पद्मपुराण पाताल खंड रामाश्वमेध प्रसङ्ग में शेष वात्स्यायन संवाद से मालूम होता है कि वात्स्यायन ऋषि वैष्णव थे, इसी प्रकार भरतमुनि भी वैष्णव थे, कारण कि भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में कहा है, कि जो पुरुष नाट्यशास्त्र का ज्ञाता होता होगा, उसका मोक्ष होगा ।

और हनुमान रामभक्त ने भी नाटचशास्त्र का निर्माण किया है, वह हनुमान जनकतनया-प्राणनाथ राम का परम भक्त था, इसलिये इस प्रकार के वैष्णव परम भक्त महापुरुषों का इतना

बड़ा प्रयास जीव के लिये धर्म, अर्थ, काम, इन तीन पुरुषार्थों की ही सिद्धि के लिये संभव नहीं होता है, किन्तु कही हुई रीति से मोक्ष प्राप्त करने के लिये साधन पर्यन्त ही संभव होता है।

और वात्स्यायन मुनि ने कामशास्त्र के सांप्रयोगिक नाम के द्वितीय अधिकरणमें कहा है कि 'ऋचां दशतयीनां चतुःषष्टि-संज्ञितत्त्वादिहापि तदर्थ संबंधात्पाञ्चालसंबंधाच्च बह्वृचैरेषा पूजार्थं संज्ञा प्रवर्त्तितेत्येके कामशास्त्र २-२-३ ।

दशमंडल वाला ऋग्वेद चतुःषष्टि संज्ञित है, इस कामशास्त्र में ऋग्वेद के अर्थ का संबंध है, इसलिये, तथा पंचाल, बाभ्रव्य आदि महर्षियों ने कामशास्त्र के विषय में चर्चा की है, इसलिये ऋग्वेदियों ने 'चतुःषष्टि' संज्ञा आदर करने के लिये कामशास्त्र को दी है, इस बात को कोई कहते हैं, इस प्रकार का सूत्र रचने वाले वात्स्यायन मुनि के संप्रयोग-आलिङ्गन, चुंबन आदि दश कार्य ऋग्वेद के आधार पर सिद्ध हैं। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' सभी वेद जिस पद का वर्णन करते हैं, यह श्रुति तथा 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' समस्त वेद से मैं ही वेद्य जानने के योग्य हूं, यह गीता स्मृति है, इस प्रकार श्रुति स्मृति से वेद भगवत्यपर सिद्ध है, अर्थात् सर्व वेद स्मृति भगवान् का वर्णन करते हैं, कामशास्त्र में वेद का ही अर्थ है, वेद भगवान् का ही वर्णन कर रहा है, इसलिये यह कामशास्त्र वेद की तरह परोक्षवाद से लीला सहित भगवान् का ही प्रतिपादन करता है, यह युक्त ही है।

नाट्यशास्त्र में नृत्य तथा संगीत का उपयोग होता है, संगीत आदि गान्धर्व विद्या सामवेद का उपवेद कहा जाता है, इसलिये नाट्यशास्त्र भी लीला सहित भगवान् का ही वर्णन कर रहा है, इस प्रकार वेदत्व दोनों शास्त्रों को सिद्ध होता है, इससे उक्त प्रकार के अर्थ को नहीं जानने वाले जीवों को भ्रान्ति हो जाती है, इस सब बात को ध्यान में रख कर श्री गो० विट्ठलनाथजी ने कहा है कि 'तच्च विशेषतो न भावयितुं शक्यमज्ञानादिति तज्ज्ञानार्थं भरतवात्स्यायनाभ्यां तत्स्वरूपं निरूपितम्' भगवान् के इस रसात्मक स्वरूप का भान अज्ञान के कारण नहीं हो सकता है, इसलिये रसात्मक रूप के ज्ञान के लिये भरत तथा वात्स्यायन मुनि ने रसात्मक स्वरूप निरूपण किया है, इत्यादि कहकर 'बुध्यस्व' यहां तक वर्णन किया है, इसलिये उक्त विषय में किसी प्रकार की शंका का लेश भी नहीं है, इस प्रकार दशदिगन्त विजयी श्री पुरुषोत्तमजी प्रकाश में कहते हैं ॥ ५½ ॥

(सुबो०) एवं पूर्वाध्याये तासां सर्वभावेन प्रमाणेन प्रमेयेन दुःखं दूरीकृतवान्। तद् दुःखमज्ञानतश्चेत्, तदैव दूरीकृतं भवति। अन्यथा भगवतैव दुःखं दत्तं स्यात्। अतो भगवता त्यक्त्वा न गतमिति न भगवान् दुःखे हेतुः, किन्तु ज्ञानमेव। अतो भगवद्वाक्यादज्ञाने गते तन्मूलकं दुःखमपि गतमित्याह इत्थमिति।

इस प्रकार भगवान् की वाणी श्रवणकर गोपियां विरह से उत्पन्न ताप त्याग करती हुईं।

यदि कहो कि वाणी शब्द रूप है, इसलिये वाणी से ज्ञान उत्पन्न होता है, ताप निवृत्त नहीं होता है।

तब इस शंका के उत्तर में पूर्व अध्याय २९ वें के अर्थ का अनुवाद करते हैं कि इस प्रकार पूर्व अध्याय में गोपियों का भगवान् में सर्व भाव होने के कारण प्रमाण से 'नाहं तु सख्यः' इस बीस

श्लोक से लेकर 'तद्वः प्रतियातु साधुना' इस २२ वें श्लोक तक वचनों से, तथा प्रमेय से-अपने प्रकट स्वरूप से भगवान् ने गोपियों का दुःख दूर किया है, यदि गोपियों को यह दुःख अज्ञान से हुआ होता तो उसी समय भगवान् दुःख दूर कर देते, और यदि गोपियों को अज्ञान से दुःख नहीं हुआ हो भगवान् ने ही हमको दुःख दिया है, इस प्रकार की गोपियों को संभावना हो जाती, इसलिये भगवान् हम गोपियों को छोड़कर नहीं गये, इस प्रकार का ज्ञान गोपियों को हो गया, अर्थात् हम गोपियों के दुःख में कारण भगवान् नहीं हैं, किन्तु गोपियों का अज्ञान ही है, इसलिये भगवान् के वचनों से गोपियों का अज्ञान दूर होने पर अज्ञान का कार्य दुःख भी दूर हो गया।

यहां पर इस प्रकार क्रम है कि शब्द से अज्ञान निवृत्ति, अज्ञान निवृत्ति होने पर विरहरूप दुःख की निवृत्ति, विरहरूप दुःख की निवृत्ति होने पर तापनिवृत्ति हो गई, इस बात को आगे श्लोक में कहते हैं, इत्थं, इत्यादि से।

श्रीशुक उवाच—

इत्थं भगवतो गोप्यः श्रुत्वा वाचः सुपेशलाः।
जहुर्विरहजं तापं तदङ्गोपचिताशिषः ॥ १ ॥

पदपदार्थ— (इत्थं) इस प्रकार से (भगवतः) भगवान् के (सुपेशलाः) अति मनोहर (वाचः) वचनों को (श्रुत्वा) श्रवण कर (तदङ्गोपचिताशिषः) भगवान् के अङ्ग-अवयवों से पूर्ण मनोरथ वाली (गोप्यः) गोपियां (विरहजं) विरह से उत्पन्न (तापं) तापको (जहुः) त्याग कर दिया ॥ १ ॥

भाषार्थ—श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि-इस प्रकार भगवान् के अति मनोहर वाक्यों को श्रवण कर भगवान् के अङ्गों से जिनके सर्व मनोरथ पूर्ण हुए इस प्रकार की गोपियां विरह से उत्पन्न ताप को त्याग करती हुईं ॥ १ ॥

(सुबो०) भगवतो वाचः श्रुत्वा विरहजं तापं जहुः। भ्रमादेवास्माकं विरहो जात इति। ननु वचनमात्रेण कथमज्ञाननिवृत्तिः, तत्राह भगवत इति। गोप्य इति विपरीतभावनानिवृत्त्यर्थम्। ननु ता वाचः कथं न मनसि सन्देहमूलादितवत्यः, तत्राह सुपेशला इति। अतिमनोहरा इति। मनसि विचिकित्सायामेव सन्देहः। शब्दस्वाभाव्यादेव मनसि सन्देहो न जातः। अतो विरहजं तापं जहुः, नास्माकं विरहो जात इति ज्ञातवत्यः। यथा स्वप्नादुत्थितः स्वाप्निकं दुःखं न मन्यते। तस्य भगवतः अङ्गैरुपचिता आशिषो यासाम्। भगवत्कार्यव्यतिरेकेणैव भगवदवयवैरेव सर्वमनोरथाः पूरिताः ॥ १ ॥

भगवान् के वचनों को श्रवण कर गोपियां विरह से उत्पन्न ताप को त्याग करती हुईं, गोपियों ने जाना कि हमको विरह से जो दुःख हुआ, वह केवल भ्रम से हुआ है, इस प्रकार ज्ञान प्राप्त होने पर परोक्ष भजन रूप अज्ञान दूर हो गया।

यदि कोई शंका करे कि विरह शृङ्गार रस का द्वितीय दल भगवद्रूप है, इसलिये उसका भ्रम से उत्पन्न होना कैसे संभव हो सकता है।

इस शंका का समाधान करते कहते हैं कि यद्यपि आपने जो कहा है, वह सत्य है, तथापि जो विरह भगवदात्मक है, वह भिन्न ही है, उसकी निवृत्ति नहीं हुई, भगवदात्मक विरह तो रस रूप है, और नित्य है, इसकी निवृत्ति कभी भी नहीं होती है, किन्तु जिन भक्तों में भगवान हमको छोड़कर चले गये, इसलिये भगवान् से हमारा संबंध नहीं है, इस प्रकार की बुद्धि थी, भीतर हृदय में भगवत्स्फूर्ति नहीं थी, अथवा भगवान् का रमण नहीं था, अथवा भगवान की लीला की स्फूर्ति नहीं है, किन्तु जो कृतघ्न बुद्धि से प्रकट हुए भगवान् में अच्छे प्रकार से सुख का अनुभव नहीं करता है, उसमें वह अज्ञानजन्य विरह था, वह भगवान् के वचनों से नष्ट हो गया।

गोपियों में तो दोनों प्रकार के विरह की स्थिति है, उसमें भगवदात्मक विरह भगवान् के प्रकट होने पर तिरोहित हो गया तथा द्वितीय-भ्रम से उत्पन्न विरह की तो भगवान् के वाक्यों से निवृत्ति हो गई, इस प्रकार जानना चाहिये।

यह द्वितीय विरह अज्ञान से उत्पन्न होता है, इसलिये वास्तविक नहीं है, 'भवतीना वियोगे मे नहिसर्वात्मनाक्वचित्'।

आप सबका सर्वात्मा होने के कारण मुझसे कभी वियोग नहीं है, इस प्रकार भगवान ने वियोग के अभाव का वर्णन किया है।

यदि शंका करो कि भगवान् के केवल वचन मात्र से गोपियों का अज्ञान कैसे निवृत्त हुआ, कारण कि जब तक वक्ता में आप्तत्व का निश्चय नहीं हो तब तक उसका वाक्य नहीं मानना चाहिये।

यदि कहो कि भगवत्व से आप्तत्व का निश्चय गोपियों को हो गया है, तो फिर पहिले जो अनुभव किया है, उसको भी दृढ होने से दो प्रकार के ज्ञान में संशय हो जायेगा, इसलिये श्री महाप्रभु जी 'ननु' आदि शब्द से पूर्व पक्ष कह कर कहते हैं कि 'भगवतः' भगवान के वाक्य हैं, इसलिये इनमें आप्तत्व का संदेह ही नहीं होता है।

तथा मूल में 'गोप्यः' पद कहा है, वह यह सूचन करता है कि नगर में रहने वाली स्त्रियों की जिस प्रकार कुतर्क-खोटे तर्क से बुद्धि बिगड़ जाती है, उस प्रकार गोपियों की बुद्धि कुतर्क से बिगड़ी नहीं है, अतः गोपियों में विपरीत भावना नहीं है।

यदि कहो कि भगवान् की वाणी ने गोपियों के मन में संदेह उत्पन्न क्यों नहीं किया, कारण कि पूर्व अनुभव से विरोधी वचन भगवान् ने कहे हैं, तथा भगवान् में आप्तत्व का निश्चय गोपियों ने कर लिया था।

इस शंका का समाधान करते कहते हैं कि (सुपेशलाः) भगवान् के वाक्य अति मनोहर हैं।

मन में परस्पर विरुद्ध ज्ञान जब होता है, तब संशय होता है, प्रकृत गोपियों के प्रसङ्ग में तो गोपियों को भगवान् के वचनों के प्रभाव से पहिले ही पूर्व सान्निध्य का अनुभव इस समय संपन्न हो गया, इसलिये अनुभव विरोध नहीं है. इसी से संदेह भी नहीं है। भगवान के वचनों का स्वभाव मन के हरण करने वाला कहा है, इसलिये भी गोपियों के मन में संदेह उत्पन्न नहीं हुआ, कारण कि भगवान के शब्द मनोहर होने के कारण भगवान् ने जो गोपियों का परोक्ष भजन किया था, उसका अनुभव गोपियों के मन में हो गया, इसलिये गोपियों ने भगवान् के विरह से उत्पन्न ताप त्याग दिया, हमको विरह नहीं हुआ, इस प्रकार गोपियों को ज्ञान हो गया, जिस प्रकार

स्वप्न से उठा पुरुष स्वप्न में हुए दुःख को नहीं मानता है, उस प्रकार गोपियों ने भी भगवद्विरह नहीं माना, भगवान् के अङ्गों से गोपियों के पूर्ण मनोरथ हो गये, अर्थात् भगवत्कार्य-स्पर्श आदि के बिना ही भगवान् के अवयवों से ही पूर्ण हो गया।

"सभाजयित्वा तमनङ्गदीपनं सहासलीलेक्षणविभ्रमद्भ्रुवा" अ० २९ श्लो० १५ में कहा है कि हास्य सहित लीलायुक्त दर्शन द्वारा विलास करती भ्रकुटि से भगवान् ने काम उद्दीपन किया तथा गोपियां अपनी गोद में पधराये भगवान के चरण संबंध वाले हस्तों से लाड लड़ाती हुईं, इसलिये भगवान् की भ्रुकुटि आदि चरण तथा हस्तादि अवयवों से ही गोपियों के सर्वमनोरथ पूर्ण हो गये, पूर्व कहे श्लोक में इस प्रकार विशेषणों के कहने से भविष्य रमण, विशेषणों द्वारा अवयवों द्वारा सूचन करते हुए ही भगवान् ने वचन कहे हैं, इसलिये भगवान् के अवयव वचन के अङ्ग होते हैं, अतः अवयव कृत पूर्ण मनोरथ भगवान् की वाणी कृत ही है, अर्थात् जो मनोरथ पूर्ण भगवान् के अवयवों से होते हैं, वह वाणी से भी पूर्ण होते हैं, इस भाव से आगे श्लोक के आभास में प्रस्तावना में श्री महाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि गोपियों के सुख में प्रतिबंध था, वह भगवान् ने वाणी से दूर कर दिया है, इस प्रकार जानना चाहिये ।। १ ।।

(सुबो०) एवं दुःखाभावसुखयोः प्रतिबन्धकं रूपेण वाचा च निवार्य स्वकर्तव्यमारभते तत्रारभतेति।

इस प्रकार गोपियों का दुःख दूर करने में तथा सुख में प्रतिबन्धक ताप भगवान् ने स्वरूप द्वारा तथा वाणी द्वारा निवारण किया।

अब शुकदेव जी कहते हैं कि भगवान अपने कर्तव्य का प्रारम्भ करते हैं।

पहिले २९ वें अध्याय के नवम श्लोक में 'सर्वास्ताकेशवालोकपरमोत्सव निर्वृताः' जहुर्विरहजं तापं' कहा है कि गोपियां विरह से उत्पन्न ताप का त्याग करती हुईं। इससे ज्ञात होता है कि ताप दो प्रकार का है, और दोनों तापों का वर्णन यहां अनुवाद से किया है, प्रतियोगी पदार्थ अभाव में प्रतिबन्धक होता है, जिस प्रकार घट के अभाव का प्रतियोगी घट होता है, वह घट घट के अभाव में प्रतिबन्धक है, इसी प्रकार यहां दुःख के अभाव में प्रतिबन्ध करने वाला दुःख है, उसका निरूपण पहिले 'सर्वास्ताः' इस श्लोक में ताप शब्द से किया है।

उक्त ताप को भगवान ने अपने स्वरूप से निवारण किया है।

इस प्रकार 'सर्वास्ताः' इस श्लोक में निरूपण किया है, इसी से वहां सुबोधिनी में 'अनिष्टनिवृत्तिमाह' अनिष्ट-दुःखकी निवृत्ति कहते हैं, इस प्रकार कहा है, अब जिस सुख का निरूपण करेंगे, उस सुख में प्रतिबन्ध करने वाली गोपियों के अङ्ग में कृशता आदि है, उस कृशता आदि का वर्णन इसी अध्याय के प्रथम श्लोक में ताप शब्द से किया है, इसलिये प्रथम श्लोक में 'तदङ्गोपचिताशिषः' यह कहा है, अर्थात् गोपियों के अवयव 'आशिषः' भगवान ने व्रतचर्या प्रसङ्ग में वस्त्रदान करके कालक्रम बिनाही सम्पादन-पूर्ण कर दिये, कारण कि गोपियों के अङ्गों में कृशता आदि विद्यमान रहे तो क्षीणरस हो जाये, इसलिये अवयवों की कृशता आदि निवारण कर रमणयोग्य कर दिये।

इस प्रकार उक्त दोनों प्रकार के ताप की निवृत्ति, प्रतिबन्धक अभाव रूप भगवान के स्वरूप दर्शन से तथा वचन श्रवण से अपने आप ही सिद्ध हो गई, इसके लिये भगवान को प्रयत्न नहीं करना पड़ा, यह भाव है।

तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः ।
स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः ॥ २ ॥

पदपदार्थ—(तत्र) उस यमुनापुलिन में (गोविन्दः) गाय आदि का इन्द्र भगवान् (अन्योन्याबद्ध बाहुभिः) परस्पर हस्तों को पकड़ कर (प्रीतैः) प्रसन्न (अनुव्रतैः) रस योग्य (स्त्रीरत्नैः) स्त्रीरत्न गोपियों से (अन्वितः) युक्त (रासक्रीडाम्) रासक्रीडा को (आरभत) प्रारम्भ किया ॥ २ ॥

भाषार्थ—उस समय यमुना पुलिन में गोविन्द भगवान् परस्पर हस्तों को पकड़ कर रस योग्य प्रसन्न स्त्रीरत्न गोपियों से युक्त रासक्रीडा प्रारम्भ करता हुआ ॥ २ ॥

(सुबो०) गोविन्द इति एतदर्थमेवेन्द्रो जातः । अतोऽसाधारणो भोगश्च तस्यावश्यक इति च । अनुव्रतैः स्त्रीरत्नैरन्वितः रासक्रीडामारभत । बहुनर्तकीयुक्तो नृत्यविशेषो रासः रसस्याभिव्यक्तिर्यस्मादिति । रसप्रादुर्भावार्थमेव हि नृत्यम् । रासे क्रीडा लीला स्वस्य । क्रीडायां मनसो रसस्योद्गमः । नृत्ये देहस्य । कामस्तु भोक्तृनिष्ठ इति स्वप्राधान्यम् । समाजेनापि रस उत्पद्यत इति एकवचनम् । तदा हीक्षुरसवद् भक्तिरसवद्वा कामरसोऽप्युत्पद्यते । गोपिकानां रसयोग्यतामाह अनुव्रतैरिति । अनुव्रतं यासाम् तासामपि रसोत्पादनमावश्यकमिति । यादृशो भगवतोऽभिप्रेतः, तादृश एवेति च । नन्वयं रसः अलौकिकः, न लौकिकेषूत्पद्यते, अतो व्यर्थं आरम्भः । न हि सिकतासमूहात् तैलमुत्पद्यत इति चेत् तत्राह स्त्रीरत्नैरिति । स्वभावतः स्त्रियस्त्रिविधाः, लोकभेदेन । तत्रापि मानुषीषु जातिभेदाश्चत्वारः पद्मिन्यादयः । वासनाभेदाश्चतुर्दश अश्वप्रकृत्यादयः । सर्वास्वेवैता रत्नभूताः । स्वासाधारणधर्मैस्तद्धर्मप्रकाशिकाः । अतः सर्वभावेन रसोत्पत्तियोग्यता । तैरन्वित इति । स्वयं नायकमणिः । तद्योग्या एते मणय इति । एकरसत्वाय च मेलनम् । अनेन रसप्रकटनार्थं शुल्कदासिका भगवते दत्ता इति यदुक्तम्, तदपि समर्थितम् । नन्वेते जीवाः, भगवानानन्दमयः, कथं वैषम्याद्रसोत्पत्तिरिति चेत, तत्राह प्रीतैरिति । ता अपि भगवत्सदृश्यो जाताः । सर्वतः प्रीता इति । तासामभिनिवेशप्रकारमाह अन्योन्याबद्धबाहुभिरिति । ताः परस्परमासमन्तादुभयतः बद्धौ बाहू यासाम् । न तु भगवता सह ॥ २ ॥

मूल में गोविन्द शब्द कहा है, इसका आशय इस प्रकार है कि भगवान् ने जीवों का आधिदैविक रूप प्रकट करने के लिये लीला की है, इसलिये तथा भगवान् इस लीला को करने के लिये ही गोविन्द हुए हैं, इसलिये असाधारण भोग भी करना भगवान् को आवश्यक है ।

अर्थात् भगवान् ने गोपियों का अङ्गीकार किया है, इसलिये फलदान करने के लिये रास-

क्रीडा कर्तव्य है, गोविन्द पद से इन्द्र निरूपण किया है, 'इदि' धातु का व्याकरण में परम ऐश्वर्य अर्थ कहा है, अतः भगवान् को असाधारण भोग करना आवश्यक है, 'गोविन्द इति चाभ्यधात्' इस वाक्य में जो 'च' है उससे गोपों का इन्द्र, व्रज का इन्द्र, गोकुल का इन्द्र इत्यादि नाम भी प्रकट हुए हैं, इसलिये गोकुलेन्द्र होने के कारण गोकुल संबंधी असाधारण भोग भगवान् को करना चाहिये, यह अर्थ है ।

भगवान् अनुव्रत स्त्रीरत्नों से युक्त रासक्रीडा प्रारम्भ करते हुए बहुत सी नाचने वाली जिसमें होती हैं, उस नृत्य विशेष को रास कहते हैं । यह रास का लक्षण रूढि सिद्ध है, और 'रसानां समूहो रासः' रसों का समूह जिसमें होता है, वह रास है, यह लक्षण यौगिक है । कारण कि नृत्य से रस प्रकट होता है, नृत्य वास्तव में रस प्रकट करने के लिये ही है, इसका विग्रह लेखकार इस प्रकार करते हैं कि 'रसस्यायं रासः' रस का यह रास-अर्थात् रस का अभिव्यंजक नृत्य है ।

रास में भगवान् की क्रीडा-लीला को रास क्रीडा कहते हैं । अब रास और क्रीडा में भेद वर्णन करते हैं कि (क्रीडायां) क्रीडा में मानसिक रस आनन्द का उद्गम-आविर्भाव, प्रकट होता है, और नृत्य में दैहिक आनन्द का आविर्भाव होता है ।

नृत्य रास पद वाच्य है, नृत्य को रास कहते हैं, इसलिये रास में देह का आनन्द प्रकट होता है, इस प्रकार क्रीडा तथा रास में भेद जानना चाहिये । इसीसे सुबोधिनी में 'रासे क्रीडा' इस प्रकार रास और क्रीडा में भेद से व्याख्यान किया है ।

यद्यपि रस शब्द से कहे आनन्द का आविर्भाव मन में भी होता है, तथापि भगवान् की सर्व परिकर अलौकिक होने के कारण सच्चिदानन्दरूप है, इसलिये सर्वत्र आनन्द विद्यमान होता है, तो फिर देह में भी आनन्द का आविर्भाव युक्त ही है ।

यहां क्रीडा में यद्यपि नायिकाओं का प्राधान्य कहना चाहिये था, तथापि भगवान की प्रधानता का वर्णन जो 'गोविन्द' कह कर किया है, उसका कारण श्री महाप्रभुजी कहते हैं कि 'कामस्तु भोक्तृनिष्ठः' काम तो भोगने वालों में रहता है, इसलिये भोक्ता भगवान् का प्राधान्य है, क्रीडा, कामरूप मानसिक आनन्द के उद्गम में हेतु है, वह आनन्द भोक्ता में रहता है, इसलिये भोक्ता का ही प्राधान्य 'तत्रारभत गोविन्दः' इसमें गोविन्द पद से कहा है ।

अनेक नायिकाओं में भिन्न-भिन्न रस उत्पन्न होना चाहिये था किन्तु रस अनेक प्रकार का है, तो भी सर्व समाज से भी एक रस उत्पन्न होता है, इस बात को सूचन करने के लिये यहाँ 'रासक्रीडां' इस प्रकार एक वचन कहा है, जिस समय समाज में रास क्रीडा होती है, उस समय ईख के रस की तरह, अथवा भक्तिरस की तरह एक कामरस भी उत्पन्न होता है, अर्थात् जिस प्रकार बहुत से ईख के दण्डों से निकला हुआ रस ईखरस होने के कारण एक ही होता है, अथवा जिस प्रकार भक्तिरूप अधरसुधारस अनेक स्वामिनियों के मुखारविन्द से भी निकला सुधारस होने के कारण एक ही है, इसीसे 'अन्तःप्रविष्टो भगवान्' इस कारिका में एक वचन कहा है ।

उसी प्रकार कामरस भी सर्व गोपियों से निकला कामरसत्व होने से एक ही है ।

भगवान् सर्व स्वामिनियों को एक करके भोग भोगते हैं, सुबोधिनी में 'समाजेनापि' इसमें 'अपि' शब्द कहा है, वह अपि शब्द नृत्य रस का बोध करता है, अतः 'रासे क्रीडा' कामलीला, इस प्रकार अर्थ होता है, इसीसे 'स्वस्य' कामभोक्ता भगवान् की प्राधानता कही है ।

आगे तो नृत्य तथा कामरस का प्रत्येक गोपी में पर्यवसान कहेंगे ।

अब गोपियों की रस योग्यता कहते हैं कि 'अनुव्रतैः' भगवान् के अनुसार गोपियों का व्रत है, इसलिये गोपियों को भी रस उत्पादन करना आवश्यक है।

जिस प्रकार का रस भगवान् को रमण करने की उत्कण्ठा से गोपियों में उत्पादन करना आवश्यक-इच्छित होता है, उसप्रकार का रस गोपियों को भी रमण करने की उत्कंठा से इच्छित होता है, इसलिये गोपियां अनुव्रत हैं, इसीसे भगवान् को गोपियों में रस प्रकट करना आवश्यक हो जाता है।

अथवा 'अनुव्रत' शब्द का अर्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकारके रसका उत्पादन भगवान् को अनुव्रत गोपियों के ऊपर परम अनुग्रह से करना अभीष्ट है, उसी प्रकार का रस गोपियों को भी अभीष्ट है इसलिये दोनों का एक अभिप्राय होने से रस का उत्पादन है।

अर्थात् जिसप्रकार का रस भगवान् को अभीष्ट होता है, उसको ही गोपियां प्रकट करती हैं, कारण कि गोपियां अनुव्रत हैं, भगवान् के अभिप्राय के अनुकूल ही रस प्रकट करती हैं। इस प्रकार 'अनुव्रत' शब्द का अर्थ कहा है।

यदि कोई शंका करे कि कहा हुआ रस अलौकिक है, लौकिकों में उत्पन्न नहीं होता है, इसलिये सर्व आरम्भ व्यर्थ है, अर्थात् 'पादन्यासैः' इस वक्ष्यमाण ८ वें श्लोक में पादआदि शरीर के अवयवों में से रस निकलने के लिये ही रासका प्रारम्भ है, फिर गोपियों की आत्मा तो अलौकिक है किन्तु शरीर के अवयव तो लौकिक हैं, यदि लौकिक न होते तो शरीर के अवयवों का लक्षण पद्मिनी आदि के व्यवहार से नहीं होता, कारण कि पद्मिनी आदि का परिचय करने के लिये लौकिक अवयवों से कामशास्त्र में लक्षण किया है, इसलिये अलौकिक रस लौकिक अवयवों में उत्पन्न नहीं होता है, और न ठहरता ही है, अतः गोपियों के अवयवों से रस निकलना कैसे संभव हो सकता है।

उत्पत्ति का अर्थ सत्ता भी माना गया है, 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबन्धः' इस सूत्र में व्याख्यान किया है, इसलिये ठहरता नहीं है, इस प्रकार भी अर्थ होता है, बालू के समूह से कहीं तैल निकलता होगा। इसलिये आपने जो कहा है कि बहुत सी स्वामिनियों द्वारा भी एकरस उत्पन्न होता है, इत्यादि सब कहना आपका व्यर्थ है।

अब इस शंका के उत्तर में कहते हैं (स्त्रीरत्नैः) स्वर्ग, मृत्यु और पाताल, इस प्रकार लोक भेद से स्त्रियां स्वभाव के कारण तीन प्रकार की होती है। उसमें भी मनुष्य लोक की स्त्रियों के पद्मिनी आदि चार जातिभेद हैं, और वासना भेद से अश्वप्रकृत्यादि चौदह हैं। उक्त सर्व स्त्रियों में गोपियां रत्न रूप हैं, अर्थात् गोपियां अपने असाधारण धर्म जो पद्मिनीत्व आदि हैं, उन धर्मों को यत्किञ्चित् स्थापन करने से लौकिक स्त्रियों के लौकिक अंगों में पद्मिनीत्व आदि धर्म का प्रकाशन करने वाली गोपियां हैं, इतने से लौकिक स्त्रियों का पद्मिनीत्वादि धर्म गोपियों में होता नहीं है, किन्तु पद्मिनीत्वादि धर्म गोपियों के अवयवों का ही है, लौकिक स्त्रियाँ तो अपना धर्म पद्मिनीत्व आदि प्रकाशन करती हैं।

जिस प्रकार श्री पुष्टि, आदि भगवान् की द्वादश शक्तियों का कुछ भाग लौकिक पदार्थों में स्थापन होने से लौकिक पदार्थ श्री, पुष्टि आदि धर्म वाले कहे जाते हैं, वास्तव में तो श्री, पुष्टि आदि लौकिक पदार्थों की शक्ति नहीं हैं। भगवान् की ही हैं। इसी प्रकार पद्मिनी आदि धर्म गोपियों के हैं लौकिक स्त्रियों के नहीं हैं, लौकिक स्त्रियों में तो गोपियों से कुछ अंश आये हुए प्रकट होते हैं।

गोपियां तो सर्व स्त्रियों में रत्न सदृश हैं, यह अर्थ है।

जिस प्रकार कङ्कण आदि में जड़े हुए रत्न अपने असाधारण धर्मों से कङ्कण आदि आभूषणों में भी चमक आदि प्रकाश कर देते हैं, उसी प्रकार गोपियां भी रत्न सदृश कंकण रूपी स्थानीय लौकिक स्त्रियों में चमक रही हैं।

योजनाकार कहते हैं कि गोपियां अपने असाधारण धर्म कृश अङ्गत्व मृगनयनीत्व, चन्द्रमुखीत्व आदिरूप धर्मों से स्त्रीरत्नत्व का प्रकाशन करने वाली हैं, इसलिये गोपियां सर्वभाव से रस की उत्पत्ति करने में योग्य हैं, इस प्रकार पूर्व शंका का समाधान किया है।

इस प्रकार की स्त्रीरत्न गोपियों से युक्त भगवान् हैं, जिस प्रकार मणियों के मध्य में मणि पदक होता है, उसी प्रकार स्त्रीरत्नमणि गोपियों के मध्य में भगवान् नायकमणि हैं, सर्व गोपियां भगवान् के योग्य मणि हैं।

एक रस उत्पन्न करने के लिये भगवान् तथा गोपियां परस्पर मिले हैं, क्रीडा करने के लिये भगवान् गोपियों से युक्त हुए, अर्थात् काम के हेतु से युक्त हुए—मिले।

इस प्रकार कथन से रस प्रकट करने के लिये शुल्क दासिका हमको काम ने आपके लिये—भगवान् के लिये समर्पण किया है।

इस प्रकार पूर्व में गोपिका गीत के दूसरे श्लोक में जो कहा है, उसका समर्थन कर दिया है।

यदि कोई शंका करे कि गोपियां तो सर्व जीव हैं और भगवान् आनन्दमय है, इसलिये विषमता होने के कारण रस की उत्पत्ति कैसे हो सकती है।

इस शंका के समाधान में कहते हैं कि (प्रीतैः) गोपियां भी भगवान् के सदृश हो गई हैं, अर्थात् प्रीति आनन्द का धर्म है, अतः प्रीतियुक्त आनन्द रूप हो गईं, गोपियां सर्व रीति से प्रीत—आनन्द रूप थीं।

अब गोपियों का रास में प्रवेश प्रकार कहते हैं (अन्योन्या बद्ध बाहुभिः) गोपियों ने परस्पर दोनों तरफ से अपने-अपने हाथ पकड़ लिये थे, भगवान् के साथ हाथ नहीं पकड़े थे ॥ २॥

(सुबो०) भगवान् पुनः हस्तमण्डलाद्बहिः स्थितो यथा सम्बध्यते, तथा सन्निवेशमाह रासोत्सवः सम्प्रवृत्त इति।

रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः
प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः ॥ ३ ॥

यं मन्येरन्, नभस्तावद्विमानशतसङ्कुलम्।
दिवौकसां सदाराणामौत्सुक्यापहृतात्मनाम् ॥ ४ ॥

पदपदार्थ—(गोपीमण्डलमण्डितः) गोपियों के मण्डल से शोभित (रासोत्सवः) रासोत्सव (कण्ठे) कण्ठ में (गृहीतानां) ग्रहण की (तासां) गोपियों के (द्वयोर्द्वयोः) दो दो के (मध्ये) मध्य में (प्रविष्टेन) प्रविष्ट हुए (योगेश्वरेण) योगेश्वरों के ईश्वर (कृष्णेन) कृष्णद्वारा (सम्प्रवृत्तः) प्रारम्भ हुआ, (स्त्रियः) समस्त गोपियां (यं) उस कृष्ण भगवान् को (स्वनिकटं) अपने पास (मन्येरन्) मानती हुईं, (तावत्) तबतक (नभः)

आकाश (औत्सुक्यापहृतात्मनां) उत्कंठा से चुराया गया आत्मास्वरूप अथवा बुद्धि जिनकी इस प्रकार के। (सदाराणां) स्त्री सहित (दिवौकसां) देवताओं के (विमानशतसंकुलम्) सैकड़ों विमानों से भर गया ॥ ३-४ ॥

भाषार्थ—गोपियों के मण्डल से शोभित रासोत्सव, भगवान् ने जिनका कण्ठग्रहण किया, इसप्रकार की दो-दो गोपियों के मध्य में प्रविष्ट योगेश्वर कृष्णद्वारा सम्यक् प्रवृत्त हुआ, गोपियाँ कण्ठ ग्रहण करने के कारण अपने-अपने पास में ही भगवान् को जानती हुईं, तबतक आकाश उत्कंठा से अपहरण हुई आत्मा-स्वरूप अथवा बुद्धि जिनकी, इस प्रकार के अपनी-अपनी स्त्रियों सहित आये देवताओं के सैकड़ों विमानों से भर गया ॥ ३।४ ॥

(सुबो०) सर्वेषामेव गुणभावात् रसप्राधान्यात् रासोत्सव एव सम्यक् प्रवृत्तः। उत्सवो नाम मनसः सर्वविस्मारक आह्लादः। उत्सवत्वसंपादनाय सजातीयानेकरसोत्पादनार्थं विशेषमाह गोपीमण्डलमण्डित इति। गोपीनां मण्डलैरनेकविधैर्मण्डितः। उत्सवोऽप्यनेकविधैर्ब्राह्मणादिमण्डलैर्मण्डितो भवति। अत्रापि तुल्यस्वभावाः रसार्थमेकीकृताः पृथङ्मण्डलभाजः। तैरपि मण्डितः। पोषकाश्च रसास्तत उत्पादिता इति उत्तरोत्तरमण्डलैः पूर्वपूर्वरसः पोष्यत इति नायं रसोऽन्यत्र भवितुमर्हति। सम्यक् प्रवृत्तिर्निरन्तरमाविर्भावः। ननु काल-कर्मस्वभावानां प्रतिबन्धकत्वादनेकत्र जायमानो रसः कथमेकीभवति, तत्राह योगेश्वरेणेति। स हि सर्वोपायवित्। सर्ववस्तुषु विद्यमानं भगवदैश्वर्यादिकं योग एवोद्घाटयतीति साधनेषु योगः प्रधानम्। तत्रैश्वर्ये सर्वत्रैव मूलभूतो रस उत्पादयितुं शक्यत इति सिद्धमेव। किञ्च। कृष्णोऽयमिति। स्वयमेव सदानन्दः। उद्गतोऽग्निः सर्वत्रैवाग्नि लीनं जनयितुं शक्नोति। तस्य भगवतस्तासु सन्निवेश-प्रकारमाह तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोरिति। मण्डलीकृता यावत्यो गोप्यः तासां द्वयं द्वयं भिन्नतया भावनीयम्। द्वित्वद्वयस्य नैकाधिकरणता भाव्या। अतो मण्डल-मध्ये यत्र हस्तद्वयग्रन्थिः, तत्र भगवदुदरं यथा भवति, तथा भगवानुत्थितो जातः। तथोद्गतस्योभयत्र सम्बन्धमाह, द्वयोर्द्वयोर्मध्ये प्रविष्टेन भगवता कण्ठे गृहीतानामिति। हस्तद्वयेन पार्श्वस्थितयोः कण्ठे ग्रहणम्। एवं षोडशगोपिकानां मध्येऽष्ट कृष्णा भवन्ति। अन्यथा रसाभासः स्यात। कृष्णद्वैविध्यप्रतीतेः। इम-मेवार्थमाह स्वनिकटं स्त्रियः यं मन्येरन्निति। स्वस्यैव निकटे, न त्वन्यासाम्। स्वसम्मुखस्थितगोपिकाकण्ठालिङ्गितभगवद्दर्शनमपि भगवदिच्छया तासां न जायत इति। प्रयोजनार्थं हि रूपकरणम्। तदर्धसङ्ख्चयैव प्रयोजनं भवतीति न सम-सङ्ख्चा मृग्या। 'यावतीर्गोपयोषित' इत्यग्रे समसङ्ख्चां भगवतो वक्ष्यति। यत्पुनः कैश्चिदुक्तं 'अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधव' इति, तत्रापि सविसर्गः पाठो ज्ञेयः। द्विवचने बहुवचनप्रयोगश्च। अन्यदेव वा तन्मण्डलम्, न भागवतोक्तम्। मध्ये

वेणुनादस्योक्तत्वात। अत्र तु रसार्थे नृत्यमिति। गानार्थमपेक्षायामपि देवैरेव तत्सिद्धिः। 'मध्ये मणीनां हैमाना'मित्यत्र तु दर्शनार्थमुक्तत्वात् गोपिकानां देवानां च दर्शनं तथैवेति नानुपपन्नं किञ्चित्। एवं रसार्थं सर्वसामग्र्यामुक्तायां स रसः प्रादुर्भूतः सर्वेषां भविष्यतीति देवादयः सर्वे अलौकिकज्ञानयुक्ता दर्शनार्थमागता इत्याह नभस्तावदिति। तावन्नभो विमानशतसङ्कुलमासीत्। मण्डपे हि नृत्यं रसजनकम्। अन्यथोपरि वैचित्र्यं न स्यात्। तदर्थमपि विमानशतेन सङ्कु-लम्। यथा रसोत्पादनार्थं स्त्रियः पुरुषाश्च सम्बद्धाः नानाबन्धयुक्ताः चित्रे स्थाप्यन्ते। तदर्थं भगवता ते चित्रप्रायाः स्थापिताः। अत एवाग्रे 'औत्सुक्या-पहृतात्मना'मिति वक्ष्यति। स्वलीलार्थं सर्वं तथा प्रेरयतीति न औत्सुक्ये-नान्यथा सिद्धिः। तासां रसग्रहणार्थमागमनम्, भगवदिच्छा तु चित्रार्थम्। विमानस्थितान् तत्सम्बन्धिनो वर्णयति दिवौकसामिति। स्वर्ग एव स्थानं येषाम्। सदाराणामिति तेषां भावान्तरव्युदासार्थम्। स्त्रीणामुपसर्जनत्वं तासां भावार्थम्। स्वर्गस्थिता रसाभिज्ञा रसयोग्याश्च भवन्तीति। नन्वी-श्वरलीला न द्रष्टव्येति कथं तेषां दर्शनार्थं प्रवृत्तिः, तत्राह औत्सुक्यापहृता-त्मनामिति। औत्सुक्येन विचाररहितलीलाक्षिप्तमनसा अपहृत आत्मा स्वरूपं बुद्धिर्वा येषाम्। अतः स्वधर्मादेव प्रवृत्ताः, न तु भगवद्धर्म विचारित-वन्तः ॥ ४ ॥

काम लीला में उपयोगी आश्लेष आदि सब को ही गुणभाव है, इसलिये रस की प्रधा-नता से रासोत्सव ही सम्यक् प्रवृत्त आरम्भ हुआ, 'महः उद्धव उत्सवः' इस कोश के अनुसार उत्सव का प्रसिद्ध लक्षण कहते हैं कि उत्सव नाम मन को सर्व का विस्मरण कराने वाला—भुलाने वाला आह्लाद है, रास से उत्पन्न आनन्द रासोत्सव है।

इसप्रकार रास से उत्पन्न आह्लाद-आनन्द को सर्वविस्मारकत्व संपादन करने के लिये, तथा सजातीय—एक जाति के अनेक रस उत्पन्न करने के लिये शुकदेव जी विशेष प्रकार कहते हैं (गोपीमण्डलमण्डितः) गोपियों के अनेक प्रकार के मण्डलों से शोभित रासोत्सव है, उत्सव भी अनेक प्रकार के ब्राह्मण आदि के मण्डलों से शोभित होता है।

रास में भी तुल्य—एक से स्वभाव वाली गोपियाँ रस के लिये एकत्र कीं, और इन एक से स्वभाव वाली गोपियों के पृथक्-पृथक् मंडल बनाये, अतः इन मण्डलों से भी रासोत्सव शोभित हुआ है।

रासोत्सव को पोषण करने वाले रस रासोत्सव से ही उत्पन्न किये गये हैं, इसलिये उत्तरो-त्तर क्षण संबंधी मंडलों से ही पूर्व-पूर्व क्षणसंबंधी रस का पोषण होता है, अतः इस प्रकार का यह-रस अन्य स्थल में नहीं हो सकता है।

अब मूल में 'सम्प्रवृत्तः, कहा है उसका अर्थ सम्यक् प्रवृत्ति—निरन्तर आविर्भाव है, अर्थात् रासोत्सव निरन्तर प्रकट हो रहा है।

यदि कोई शंका करे कि काल, कर्म स्वभाव, ये प्रतिबन्धक हैं, इसलिये अनेक स्थल में उत्पन्न हुआ रस एक कैसे हो सकता है ? प्राकृत काल कर्म स्वभाव का तो पहिले ही निरास कर चुके हैं किन्तु 'तमद्भुतं बालकम्' इस जन्म प्रकरण के श्लोक में कहे भगवद्रूप काल कर्म स्वभावों का भी लीला के लिये प्रतिबन्ध करने का स्वभाव है, फिर रस किस प्रकार एक हो सकता है, यह शंका करने का आशय है ।

अब इस शंका का समाधान करते कहते हैं कि (योगेश्वरेण) योगेश्वर सर्व उपायों के जानने वाले होते हैं, सर्ववस्तुओं में विद्यमान भगवान् के ऐश्वर्य आदि धर्म को योग में ही प्रकट करते हैं, इस प्रकार साधनों के बीच में योग प्रधान है ।

भगवान् तो योगेश्वर हैं, योग के ऐश्वर्य में सर्वत्र ही स्थित मूलभूत रस उत्पन्न कर सकते हैं। यह बात सिद्ध ही है ।

योगेश्वर भगवान् कृष्ण है, यह स्वयं ही सदानन्द रूप है । प्रकट प्रज्वलित अग्नि सर्वत्र ही लीन गुप्त अग्नि को उत्पन्न कर सकता है, यहां यह दृष्टान्त इस भाव से दिया है कि 'तासामाविरभूच्छौरिः' इसको सुबोधिनी में कहा है कि गोपियों के मध्य में भगवान् 'कृष्ण एवजातः' सदानंद प्रकट हुए हैं, और गोपियों में अपना आनन्द स्थापन किया है ।

अब गोपियों के मध्य में भगवान् के प्रवेश प्रकार को कहते हैं कि (तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः) मण्डल करके जितनी गोपियां स्थित थीं, उन में दो-दो गोपियां भिन्न-भिन्न जाननी चाहिये, अर्थात् दो गोपियों की भावना करके एक श्रीकृष्ण की भावना करनी चाहिये इसके अनन्तर फिर दो गोपियों की भावना करनी चाहिये, फिर एक श्रीकृष्ण की भावना करनी चाहिये, इस प्रकार सर्व गोपियों के एक पार्श्व में—एकतरफ में भगवान् हैं, उनके साथ-क्रीडा है ।

भगवान् के बाईं तरफ, अर्थात् वाम भाग में जो व्रज सुन्दरी है, उसके साथ क्रीडा, तथा दक्षिण तरफ एक व्रज सुंदरी है, उसके साथ क्रीडा है, इस प्रकार एक भगवान्के स्वरूप के साथ दक्षिण भाग, वाम भाग, दोनों तरफ की व्रजसुंदरियों के साथ क्रीडा है, इस प्रकार जानना चाहिये । सुबोधनी में कहा है कि 'द्वित्वद्वयस्य नैकाधिकरणता' गोपियों के द्वित्व दो की एकाधिकरणता की भावना नहीं करनी चाहिये, अर्थात् गोपियों का द्वित्वद्वय एक भगवान् में नहीं है एक भगवान् का अवलम्बन करके स्थित नहीं है, किन्तु दूसरे द्वित्व में द्वितीय भगवान् हैं यह अर्थ है ।

भावुकों को, चार गोपियां एक भगवान् के स्वरूप का अवलम्बन करके स्थित हैं, इस प्रकार की भावना नहीं करनी चाहिये, किन्तु दो गोपी एक भगवान् का अवलम्बन करके स्थित हैं, इस प्रकार भावना करनी चाहिये, उसमें भी एक गोपी के वाम भाग में और दूसरी गोपी के दक्षिण भाग में भगवान् हैं इस प्रकार ध्यान करना चाहिये ।

सुबोधिनी में श्रीमदाचार्यचरण ने (भावनीयम्) भावना में कृत्यप्रत्यय कहा है, इसलिये अवश्य जप आदि के समय सर्वदा ही इस प्रकार का रूप स्मरण करना चाहिये ।

मण्डल मध्य में जहां दो हाथों की ग्रन्थि है, वहां भगवान् का उदर–पेट जिस प्रकार हो, उस प्रकार भगवान् खड़े हो गये हैं इस प्रकार खड़े हुए भगवान् दोनों तरफ संबंध कहते हैं (द्वयोर्द्वयोर्मध्ये प्रविष्टेन भगवताकण्ठे—गृहीतानाम्) दो-दो गोपियों के मध्य में प्रविष्ट भगवान ने गोपियों के कण्ठ—ग्रहण कर लिये हैं, अर्थात् गलबहियां गेर ली (डाल ली) हैं ।

भगवान् ने दोनों तरफ की गोपियों के कण्ठ ग्रहण कर लिये हैं इस प्रकार सोलह गोपियों

के मध्य में आठ कृष्ण होते हैं, अर्थात् सोलह गोपियों का एक मण्डल है, इस प्रकार अनेक मंडल हैं उसमें सोलह गोपियां भगवान् की कला रूप हैं, उन कलारूप गोपियों के सहित श्री वृन्दावनचंद भगवान् का यहां बोध किया है । इसीसे सोलह गोपियों की ही गणना की है, और सोलह ही गोपियों के मंडल का निरूपण किया है ।

इस प्रकार कहने से प्रमाण प्रकरण एकादश अध्याय वृन्दावन गमन प्रसङ्ग में 'गोपवृद्धा महोत्पातानुभूय बृहद्वने, यहां से लेकर 'राममाधवयोर्नृपः' यहा तक सोलह श्लोकों से सोलह संख्या तात्पर्य से सूचित श्रीकृष्ण को चन्द्रत्व, फल प्रकरण में सोलह गोपियों के मंडल कथन से स्फुट किया है, अन्यथा सम संख्या में अर्थात् सोलह कृष्ण के पक्ष में, अथवा चार कृष्ण के पक्ष में, यदि एक एक गोपी के प्रति एक-एक कृष्ण स्वरूप हो, तो मंडल के मध्य में एक-एक गोपी के दोनों तरफ कृष्ण स्वरूप होने से, भगवान् के दो स्वरूपों से एक-एक गोपी का संबंध होने पर रसाभास हो जायेगा । इसलिये पूर्व कहे प्रकार से ही गोपियों के मंडल में भगवान् प्रविष्ट हैं। इसी बात को सुबोधिनी में कहा है कि 'कृष्णद्वैविध्यप्रतीतेः' अर्थात् सोलह गोपियों में सोलह कृष्ण हैं, इस प्रथम पक्ष का खंडन, एक गोपी को दो कृष्ण स्वरूपों की प्रतीति के कारण रसाभास हो जायेगा, इस प्रकार कर दिया है ।

अब दूसरा पक्ष सोलह गोपियों में चार कृष्ण का है। इस पक्ष का खंडन तो मूल में ही कर दिया है, उसको आगे कहते हैं कि 'इममेवार्थमाह' इसी अर्थ को सोलह गोपियों के मंडल में आठ कृष्ण प्रकट हुए हैं, शुकदेवजी कहते हैं। (स्वनिकटं स्त्रियः यं मन्येरन्) सर्व गोपियां 'भगवान् हमारे ही पास हैं, अन्य के पास नहीं हैं' इस प्रकार मानती हुईं ।

जो सोलह गोपियों के मंडल में चार कृष्ण प्रकट हों, तो सोलह गोपियों में से आठ गोपियों को भगवान् का संबंध नहीं होना चाहिये, फिर मूल श्लोक में जो कहा है कि सर्व गोपियां भगवान् को अपने पास में मानती हुईं, इस कथन से विरोध हो जाता है, इसलिये सोलह गोपियों में आठ कृष्ण प्रकट हुए, इस पक्ष का ही आदर करना चाहिये ।

अब दूसरे प्रकार से रसाभास की शंका करके परिहार करते हैं अपने सामने स्थित अन्य गोपियों का कण्ठ आलिङ्गन करते भगवान् का दर्शन भी भगवान् की इच्छा से अन्य गोपियों को नहीं होता है ।

भगवान् किसी प्रयोजन के लिये अपना रूप प्रकट करते हैं, वह भगवान् का प्रयोजन गोपियों से आधी संख्या आठ से ही सिद्ध होता है, फिर समान संख्या सोलह गोपी, और उनके साथ सोलह कृष्ण की आवश्यकता नहीं रहती है ।

यदि कहो कि भगवान् की इच्छा से ही जब दर्शन का अभाव आप समर्थन करते हो, तब सोलह कृष्ण के पक्ष में भी अदृष्ट क्यों नहीं मानते हो, अर्थात् जिस प्रकार अष्टकृष्ण के पक्ष में पहिले कहा सामने स्थित कृष्ण का दर्शन गोपियों को नहीं होता है, उसी प्रकार सोलह गोपी सोलह कृष्ण के पक्ष में भी दर्शन का अभाव ही मानना चाहिये ।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'यावतीर्गोपयोषितः' भा० १०।३०।२० जितनी गोपियां थीं, उतने ही भगवान् के स्वरूप हैं, इस प्रकार आगे गोपियों के समान भगवान् की समान संख्या कहेंगे ।

यदि कहो कि भले ही भगवान् के स्वरूप की आठ संख्या हो, किन्तु भक्तों को जिस प्रकार

का प्रत्यक्ष होता है, वह भी प्रमाण माना जाता है, बिल्वमंगल को जितनी गोपियां, उतने ही भगवान्के स्वरूपोंका दर्शन हुआ है, इसलिये केवल अष्ट संख्याका निर्णय ही नहीं मानना चाहिये।

इस शंका का उत्तर देते श्री महाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि जो फिर किसी ने कहा है कि 'अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधवः।

प्रत्येक गोपी के मध्य में कृष्ण हैं, यहां पर भी 'अङ्गना अङ्गना अन्तरे' इस प्रकार पाठ जानना चाहिये, यह बहुवचन महत्व की विवक्षा से द्विवचन के अर्थ में कहा है, 'अङ्गनयोः अन्तरे' दो अङ्गनाओं के मध्य में, यह अर्थ होता है।

और यदि यहां बहुवचन प्रयोग न करके द्विवचन का प्रयोग करते हैं तो पररूप होने से 'अङ्गनेङ्गनेन्तरे' इसप्रकार छंदभङ्ग हो जाता है, एक यह भी कारण है।

बिल्वमंगल के कहे उक्त वाक्य को बहुत समय व्यतीत हो चुका है इसलिये इस समय पाठ में फेरफार हो जाना भी संभव हो सकता है।

अथवा यदि इसी पाठ को प्रामाणिक मान लिया जाय तो बिल्वमंगल को जिस गोपियों के मण्डल का दर्शन हुआ था, वह मण्डल अन्य ही रसपोषण के उत्तर भावी है, भागवत में कहा नहीं है, इस प्रकार मानना चाहिये।

कारण कि मध्य में वेणुनाद का वर्णन कहा है, और यहां तो रसके लिये नृत्य है, अर्थात् यहां रस का उद्बोधक नृत्य ही है, वेणुनाद नहीं है, इसलिये भागवत में कहा नहीं है।

यदि कहो कि बीच में वेणुनादका वर्णन दूसरे रास का बोध नहीं करता है, कारण कि रस के लिये भी मण्डल में गान की अपेक्षा होती है।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि गान के लिये वेणुनाद की अपेक्षा में भी देवोंद्वारा ही गान सिद्ध होता है।

यदि कहो कि इस अध्याय के बीसवें श्लोक में आगे कहा है कि जितनी गोपियां, उतने ही कृष्ण के स्वरूप हैं, इस प्रकार समान संख्या पक्ष कहा है, तथा ७ वें श्लोक में, 'मध्ये मणीनां' इस-प्रकार का मंडल होने पर भी जिस प्रकार सुवर्ण की मणियों के बीच में मरकत मणि–पन्ना की मणि शोभा देती है, उस प्रकार भगवान् शोभित हुए, उक्त कथन से बहुत सी गोपियों में भगवान् एक ही नृत्य कर रहे हैं, इस प्रकार प्रतीत हो रहा है, यह सब पूर्वोक्त से विरुद्ध है, कारण कि पूर्व में गोपियों के मध्य में दो-दो में भगवान् प्रविष्ट हुए कहा है, फिर संख्या का निर्णय कैसे हो सकता है।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'मध्ये मणीनां हैमानां' यहां तो दर्शन के लिये दृष्टान्त कहा है, अर्थात् गोपी, देव तथा गंधर्व आदि को इस प्रकार का ही दर्शन हुआ है।

पहिले जिस प्रकार भगवान् मण्डल मध्य में रूप करके प्रविष्ट हुए, उसप्रकार भगवान् के बहु रूपों का वर्णन शुकदेवजी ने किया है, और 'मध्ये मणीनां' यहां तो जिस प्रकार देव आदि को दर्शन हुआ कि बहुतसी गोपियों में एक भगवान् हैं, उस प्रकार शुकदेव जी ने वर्णन किया है, इसलिये विरोध नहीं है।

योजनाकार 'गोपिकानां देवानां च' इस सुबोधिनी की पङ्क्ति का इस प्रकार अर्थ करते हैं कि 'गोपिकानां दर्शनं, गोपिका कर्मदर्शनं' गोपियों का दर्शन, अर्थात् गोपियों के कर्म का दर्शन 'देवानां च, देवकर्तृकदर्शनं' इसका अर्थ यह हुआ कि, देवताओं को भगवद्दर्शन में एक भगवान् मध्य में नृत्य कर रहा है। इस प्रकार का दर्शन होता है, और गोपियों को तो बहुतों का

दर्शन, जिस प्रकार मरकत मणि के चारो तरफ संलग्न सुवर्ण की मणियां हों उस प्रकार का दर्शन होता है, देवताओं को चारो तरफ स्थित गोपियों का ही दर्शन हुआ, गोपिका संबंधी किसी अन्तरङ्ग लीला का दर्शन नहीं हुआ, इस प्रकार अर्थ फलित हुआ।

जिस प्रकार यहा भगवान् की इच्छा से सामने स्थित गोपियों के कण्ठ का आलिङ्गन किये भगवान् के दर्शन का अभाव कहा, उसी प्रकार वहां देवों को सम संख्या का दर्शन है, इतने से यहां समान संख्या सिद्ध नहीं होती है।

इस प्रकार रस प्रकट करने के लिये सर्व सामग्री का वर्णन किया है, उक्त सर्व सामग्री सिद्ध होने पर अलौकिक रस सब देखने वालों को भी अपने-अपने अधिकारानुसार प्रकट होगा, इसलिये देवता आदि सर्व अलौकिक ज्ञानयुक्त भगवान् का दर्शन करने के लिये आये इस बात को शुक-देवजी कहते हैं, (नभस्तावत्) तबतक आकाश सैकड़ों विमानों से भर गया।

मण्डप में नृत्य रस उत्पन्न करने वाला होता है, यदि आकाश में विमान नहीं होते तो ऊपर विचित्रता नहीं होती, अतः विचित्रता सिद्ध करने के लिये दर्शनार्थ देवता आये और उनके सैकड़ों विमानों से आकाश भर गया।

जिस प्रकार रस उत्पन्न करके के लिये स्त्री-पुरुषों के मिले हुए नानाबन्धयुक्त चित्र स्थापन किये जाते हैं, उसी प्रकार रास क्रीडा में रस उत्पन्न करने के लिये भगवान् ने स्थित देव गणों के विमान् चित्रप्राय स्थापन किये हैं, इसी से आगे शुकदेव जी 'औत्सुक्यापहृतात्मनां' इस प्रकार कहेंगे।

यदि शंका करो कि उत्सुकता भगवान् के दर्शन में आपने कारण कही, तो फिर देवों की आत्मा का अपहरण करना उत्सुकता को कैसे संभव हो सकता है।

इस शंका के समाधान में कहते हैं कि, भगवान् अपनी लीला करने के लिये सब को उसी प्रकार प्रेरण करता है, इसलिये उत्सुकता में अन्यथासिद्धि नहीं है, अर्थात् देवों में उत्सुकता थी, किन्तु देवता दौड़कर भगवान् के पास नहीं आ सके।

देवता तो गोपियों का रस ग्रहण करने के लिये आये थे, किन्तु भगवान् की इच्छा तो देवताओं को चित्र की तरह करने के लिये थी अतः उसी प्रकार देवता हो गये।

अब विमानों में स्थित मिथुनरस संबंधी देवों का वर्णन करते हैं, (दिवौकसाम्) देवताओं का स्वर्ग में ही स्थान है, और देवों की स्त्रियां साथ में हैं, इसलिये देवों में दूसरा भाव नहीं है, (सदाराणां) इस पद से स्त्रियों को उपसर्जनत्व–गौणत्व है, इसका आशय यह है कि देवों को गोपियों का भाव है, कारण कि स्वर्ग में रहने वाले रसाभिज्ञ-रस के जानने वाले, तथा रस योग्य होते हैं।

यदि शंका करो कि ईश्वर की लीला देखनी नहीं चाहिये। फिर ईश्वर की लीला देखने में देवों की प्रवृत्ति क्यों हुई ?

इस शंका के समाधान में शुकदेवजी कहते हैं कि (औत्सुक्यापहृतात्मनाम्) उत्कंठा-से विचार रहित, और लीला से चित्त आक्षिप्त–खिचगया, तथा अपहृत-अपहरण-चुराया आत्मा-स्वरूप अथवा बुद्धि जिनकी, इस प्रकार के देवता हो गये, अर्थात् उत्सुकता से देवताओं का मन विचाररहित हो गया, और लीला से आकर्षित हो गया, इसलिये इनका आत्मा-स्वरूप अथवा इनकी बुद्धि का अपहरण हो गया, अतः देवता अपने धर्म से ही भगवल्लीला के दर्शन में प्रवृत्त हुए हैं, इसलिये देवताओं ने तो भगवद्धर्म का विचार नहीं किया है, ॥ ३।४ ॥

(सुबो०) ततो नृत्यारम्भे यद् भाव्यम्, तज्जात मित्याह तत इति ।

अनन्तर नृत्य के आरम्भ में जो कुछ होना चाहिये वह हुआ । इस बात को आगे के श्लोक में शुकदेव जी कहते हैं ।

ततो दुन्दुभयो नेदुर्निपेतुः पुष्पवृष्टयः ।
जगुर्गन्धर्वपतयः सस्त्रीकास्तद्यशोऽमलम् ॥ ५ ॥

पदपदार्थ—(ततः) अनन्तर (दुन्दुभयः) दुन्दुभियां नौबतें (नेदुः) बजने लगीं, (पुष्पवृष्टयः) पुष्पों की वर्षाएं (निपेतुः) होने लगीं (सस्त्रीकाः) स्त्रियों के सहित (गंधर्व पतयः) गंधर्वपति (अमलम्) निर्मल (तत्) भगवान् का मलनिवर्तक (यशः) यश को (जगुः) गान करते हुए ॥ ५ ॥

भाषार्थ—अनन्तर दुन्दुभियां बजने लगीं, पुष्पों की वर्षा होने लगी और स्त्रीसहित गन्धर्व पति भगवान् का निर्मल—मलनिवर्तक यश गान करते हुए ॥ ५ ॥

(सुबो०) आदौ दुन्दुभिवादनम् । 'परमा वा एषा राग् या दुन्दुभा'विति श्रुतेः । ततः प्रथमतः पुष्पवृष्टिर्मङ्गलार्था । पुष्पाञ्जलिः प्रसिद्धः । आगतो रसः तदधिष्ठाता वा पूज्यत इति । नाना विधानां पुष्पाणां भिन्ना वृष्टश्च इति बहुवचनम् । ततो गानं साधारणं जातमित्याह जगुर्गन्धर्वपतय इति । भगवान् श्रोष्यतीति उत्तमैरेव गानम् । गन्धर्वपतयो विश्वावसुप्रभृतयः । ते ह्यधिकारिण इति नटानामिव तेषां दर्शनं न दोषाय । अन्यथा भगवद्धस्तस्थितेन्द्रादीनामपि दोषत्वं स्यात् । 'अर्थद्रव्यविरोधेऽर्थो बलीया'निति न्यायात् । तथापि तेषामन्यथा बुद्धिः सम्भाव्येतेति विशेषणमाह सस्त्रीका इति । वैषयिकदोषव्यावृत्त्यर्थमाह अमलं तद्यश इति । तद्धि मलनिवर्तकम् । अतो न तासां तेषां वा तत्कालोपयोगिपदार्थादतिरिक्तो भाव उत्पद्यते ॥ ५ ॥

पहिले दुन्दुभियां बजने लगीं, 'परमा वा एषा वाग् या दुन्दुभौ' इति श्रुतेः' श्रुति कहती है कि दुन्दुभी में जो वाणी वह श्रेष्ठ है, प्रथम मङ्गल के लिये पुष्पवृष्टि हुई, वह पुष्पाञ्जलि से प्रसिद्ध है, आया हुआ रस, अथवा रस का अधिष्ठाता देव का पूजन किया जाता है, नाना प्रकार के पुष्पों की भिन्न-भिन्न वृष्टि हुई है, इस आशय का सूचन 'पुष्पवृष्टयः' यह बहुवचन कर रहा है ।

पश्चात् गान साधारण हुआ है, इस बात को कहते हैं कि (जगुर्गन्धर्वपतयः) गान को भगवन् श्रवण करेंगे, इस कारण से उत्तम गन्धर्वों ने ही गान किया है, गन्धर्वपति विश्वावसु प्रभृति हैं, इनको ही उत्तम गान करने में अधिकार है, इसलिये नटों की तरह उत्तम गन्धर्वों को भगवल्लीला का दर्शन-दोष नहीं करता है, अर्थात् जिस प्रकार नाचने वाली स्त्रियों को शिक्षण करने वाला पुरुष, उन स्त्रियों का नाच देखे तो उसको दोष नहीं होता है, उसी प्रकार उत्तम अधिकारी गंधर्व, भगवान् की लीला का दर्शन करे तो उसको दोष नहीं है ।

यदि इस प्रकार नहीं मानते तो भगवान् के हस्त में स्थित इन्द्रादि देवों को भी दोष-जनकता हो ।

जिस प्रकार विश्वावसु प्रभृति उत्तम गन्धर्व भगवान् की लीला मात्र में उपयोगी नटों की तरह हैं, और साधारण नटों से भिन्न हैं उसी प्रकार भगवान् के एकान्त गृह आदि मात्र में लीला के उपयोगी क्रिया शक्ति मान् इन्द्रादि देवता, दिशाओं के पालन करने वाले इन्द्रादि देवों से भिन्न हैं, दिशाओं के पालन करने वाले इन्द्रादि देवों से भिन्न इन्द्रादि देवता तो भगवान् के भुजदण्ड मात्र के आश्रित हैं ।

भगवान् की दोनों भुजा रस रूप हैं, इसलिये रसात्मक क्रिया शक्ति प्रधान इन्द्रादि देवों की ही भुजाओं में स्थिति होना उचित है, इसीसे सुबोधिनी में ठीक कहा है कि 'भगवद्धतस्थितेन्द्रादीनामपिदोषत्वं स्यात्' भगवान् के हस्त में स्थित इन्द्रादि देवों को भी दोषत्व हो, कारण कि 'अर्थ द्रव्य विरोधेऽर्थो बलीयान्' जैमिनिसूत्र ६-३-३९ अर्थ तथा द्रव्य के विरोध में अर्थ बलवान होता है, यह न्याय है, इससे सिद्ध होता है कि गन्धर्वों को भगवल्लीला के दर्शन में दोष नहीं है, तथापि मर्यादा मार्ग आदि की रीति के अनुसार गंधर्वों की अन्यथा बुद्धि-दोष बुद्धि हो जाय तो इसके लिये शुकदेवजी विशेषण कहते हैं कि (सस्त्रीकाः) गंधर्व स्त्री सहित थे ।

इस विशेषण कहने का आशय यह है कि गंधर्व आदि ने यह विचार किया कि जिस प्रकार हम लोग भगवान् का दर्शन करते हैं, उसी प्रकार हमारी स्त्रियां भी भगवान् का दर्शन करें, तथा हमारी स्त्रियों का भी उपयोग भगवल्लीला में हो जाये' इस प्रकार का भाव गन्धर्वों का स्फुट होता है, गंधर्व भक्ति मार्गीय हैं, इसलिये मर्यादा मार्ग आदि की रीति के अनुसार गंधर्वों की बुद्धि में दोष नहीं है ।

यद्यपि आपका कहा ठीक है, कि गंधर्वों को भगवल्लीला का दर्शन करने में किसी प्रकार का दोष उत्पन्न नहींहोता है, किन्तु जिस प्रकार रति संबंधी चित्र दर्शन से काम उत्पन्न हो जाता है, उसी तरह अपनी स्त्रियों में तो गन्धर्वों को काम उत्पन्न हो जायेगा । अर्थात् देवों को भगवल्लीला दर्शन करने पर भगवान् की लीला परिकर में दोष बुद्धि नहीं होगी किन्तु अपनी भोग्य स्त्रियों में तो काम का उद्बोध होगा ही । इस प्रकार विषय संबंधी दोष दूर करने के लिये भगवान् का यश गंधर्वों ने गान किया, इस बात को शुकदेवजी कहते हैं ।

'अमलं तद्यशः' भगवान् का यश अमल है मल निवर्तक है, इसमें यहां 'न मलं यस्मात्' इस प्रकार पञ्चम्यन्त अन्य पदार्थ में बहुव्रीहि समास करने से मल निवर्तक अर्थ सिद्ध होता है, अतः देव स्त्रियों को तथा देवों को उस समय के उपयोगी पदार्थों से अतिरिक्त भाव उत्पन्न नहीं हुआ है, अर्थात् गंधर्वी गंधर्वों को भगवत्परिकर में तथा अपने अपने पुरुष, तथा अपनी अपनी स्त्रियों में भी कामभाव उत्पन्न नहीं हुआ, यह भाव है ॥ ५ ॥

(सुबो०) एवं बाह्यगीतवाद्यादिमुक्त्वा नृत्यमध्ये रसोपयोगिवादित्राण्याह वलयानामिति ।

इस प्रकार बाहर के गीतवाद्य आदि कहकर अब नृत्य के मध्यमें रस के उपयोगी वादित्रों का-बाजों का शुकदेवजी वर्णन करते हैं ।

वलयानां नूपुराणां किङ्किणीनां च योषिताम् ।
सप्रियाणामभूत् शब्दस्तुमुलो रासमण्डले ॥ ६ ॥

पदपदार्थ—(रासमण्डले) रासमण्डल में (सप्रियाणाम्) श्रीकृष्णसहित (योषितां) गोपियों के (वलयानां) कङ्कणों का (नूपुराणां) नूपुरों का (च) और (किङ्किणीनां) किंकिणियों का (तुमुलः) घोर (शब्दः) शब्द (अभूत्) हुआ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—रासमण्डल में श्रीकृष्णसहित गोपियों के कङ्कण, नूपुर और कटिभूषण किंकणियों का घोर शब्द हुआ ॥ ६ ॥

(सुबो०) स्थानत्रये हि वादित्राण्यपेक्ष्यन्ते । नीचस्थाने भूमाविव मध्ये उपरि च । तथैव तालभेदाः । अतोऽत्रापि उपरि वलयानां शब्दः । अधो नूपुराणाम् । मध्ये किङ्किणीनाम । अन्योन्याबद्धबाहव एव मध्ये मध्ये हस्तद्वयं योजयन्तीति वलयानां शब्दः । अथवाग्रे शब्दोत्पत्त्यर्थं प्रकारं वक्ष्यति 'पादन्यासै'रिति । सप्रियाणां कृष्णसहितानाम् । अत एव सर्वलास्यसम्पत्तिः सर्वासां भगवत्संबंधार्थम् । चकारात् अन्येपि कूजितशब्दा मुखशब्दाश्चोक्ताः । सर्वं एकीभूय तुमुलो भूत्वा यथा दूरस्थानामवान्तरग्रहणं न भवति । तथासति किं स्यात्, अत आह रासमण्डल इति । रसानां समूहमण्डले । यथानधिकारित्वेन शूद्रस्य वेदश्रवणे तदध्येतुर्मन्त्रस्य च शक्तिह्रासः, शूद्रे च पापसम्भवः, तथैतद्भक्तातिरिक्तानामेतच्छ्रवणेऽप्यनधिकारादस्य रसस्यालौकिकत्वादेतच्छ्रवणे मण्डले सर्वेषां रसो गच्छेत् । श्रवणे सति तदन्वेषणपरत्वं स्यात् । तत्तेषामेवानिष्टकरमिति तदेव पापरूपम् ॥ ६ ॥

तीन स्थानों में वादित्रों की-बाजों की अपेक्षा होती है, नीचे के स्थान में भूमि की तरह, मध्य में, तथा ऊपर में, इसी प्रकार ताल भेद भी होते हैं, इसलिये यहां भी ऊपर में कङ्कणों का शब्द हो रहा है, नीचे नूपुरों का शब्द, और मध्य में किङ्किणियों का शब्द हो रहा है ।

गोपियां परस्पर हाथ पकड़े हुए ही, बीच बीच में दोनों हाथों को मिलाती थीं, अर्थात् ग्रन्थियुक्त हस्त में ही ताल प्रकट करने के लिये बीच बीच में दूसरा हस्त मिलाती थीं, इसलिये वलयों का-कङ्कणों का शब्द होता था ।

अथवा आगे 'पादन्यासैर्भुज विधुतिभिः' इस आठवें श्लोक में शुकदेव जी शब्द की उत्पत्ति के लिये प्रकार कहेंगे ।

(सप्रियाणाम्) प्रिय-श्रीकृष्ण के साथ सर्व गोपियों का संबंध करने के लिये, सर्व प्रकार के लास्य-अर्थात् कोमल नृत्य की संपत्ति सिद्ध हो गई है ।

कुलीन स्त्रियां नृत्य का अभ्यास करें, यह बात घटित नहीं होती है, फिर भी जो इस प्रकार नृत्य का ज्ञान गोपियों को हुआ है, वह भगवान् के अनुभाव से ही हुआ है, इसी तात्पर्य से श्लोक में 'सप्रियाणां' गोपियों का यह विशेषण कहा है ।

मूल श्लोक में जो 'च' कहा है, वह यह सूचना करता है कि अन्य भी कूजित शब्द तथा मुख शब्द भी हुए हैं, इस प्रकार सर्व शब्द एकत्रति-इकट्ठे होकर इतना घोर शब्द हो गया कि जिस प्रकार दूर में स्थित लोगों को अवान्तर शब्द ग्रहण नहीं होते थे, अर्थात् रास में जो शब्द परस्पर रससम्बन्धी होते थे, वे अन्य किसी को श्रवणगोचर नहीं होते थे ।

यदि शंका करो कि इस प्रकार होने में फिर क्या हुआ । इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि (रासमण्डले) रसों के समूह मण्डल में घोर शब्द हुआ ।

जिस प्रकार शूद्र को वेद श्रवण करने का अधिकार नहीं है, और यदि शूद्र वेद श्रवण करे तो वेद पढ़ने वाले की शक्ति का, तथा मन्त्र की शक्ति का नाश होता है, और शूद्र को पाप लगता है, इसी प्रकार भक्तों से इतर अन्य पुरुष को रासलीला श्रवण करने का अधिकार नहीं है, कारण कि यह रस अलौकिक है, जो अनधिकारी पुरुष इस रस का श्रवण करे तो मण्डल में सर्व का रस चला जाये, और श्रवण करने वाला अनधिकारी पुरुष इस लीला के विचार में पर जाये ।

विचार में पर जाना ही उसका अनिष्ट है, और वह पाप रूप है ॥ ६ ॥

(सुबो०) एवं नृत्यमध्ये प्रविष्टो भगवान् गुणभावात् कदाचिन्न भासेतेत्याशङ्क्य सर्वजनीना भगवच्छोभा तदा जातेत्याह तत्रेति ।

इस प्रकार नृत्य के मध्य में प्रविष्ट भगवान् गुणभाव-गौणभाव से कदाचित् प्रकाश नहीं करे, इस प्रकार शंका हो तो उत्तर में शुकदेव जी कहते हैं कि उस समय भगवान् की शोभा सब के जानने में आई है, अर्थात् यहां गौणत्व से संभावित शोभा के अभाव का कैमुत्तिक न्याय से निरास करना वाक्यार्थ है ।

तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः ।
मध्ये मणीनां हैमानां महामारकतो यथा ॥ ७ ॥

पदपदार्थ—(हैमानां) सुवर्ण के (मणीनां) मणियों के (मध्य) बीच में (यथा) जिस प्रकार (महामरकतमणिः) गरुड़ से निकली सहजमणि (तथा) उसी प्रकार (भगवान्) श्रीकृष्ण (देवकीसुतः) देवकीपुत्र (ताभिः) गोपियों के साथ (तत्र) रासमंडल में (अतिशुशुभे) अत्यन्त शोभित हुए ॥ ७ ॥

भाषार्थ—सुवर्ण की मणियों के बीच में जिस प्रकार महामरकतमणि शोभित होता है, उसी प्रकार भगवान् देवकीसुत गोपियों के साथ मध्य में अत्यन्त शोभित हुए ॥ ७ ॥

(सुबो०) स्वभावशोभातोऽप्यतिशयेन शुशुभे । तदुक्तं 'शक्तिभिः सहितोऽधिकां शोभां प्राप्नोतीति । कदाचित स्वतएव शोभां प्रकटयेदिति तद्व्यावृत्यर्थं ताभिरित्युक्तम् । ननु सहज शोभा युक्तस्य कथं ताभिरति शोभा, तत्राह भगवानिति । यथा गुणैः । ननु गुणाः सर्वोत्तमाः, न तथैता इति चेत्, तत्राह देवकीसुत इति । भक्त्या यथा देवक्या अपि पुत्रो जातः । स्त्रीणामेवोपकारायाविर्भूतः । अतस्तास्वपि स्वसामर्थ्यमेव दत्त्वा शोभां प्राप्तवान् । सहजस्य कृत्रिमैः शोभा न भविष्यतीत्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह मध्ये मणीनामिति । महामारकतो गरुडोद्गारी स मणिः सहजः । सुवर्णमणयः कृत्रिमाः । तथापि ते परितः क्लृप्ताः सहज मणिमप्यति शोभयन्ति ॥ ७ ॥

भगवान् स्वभाव से शोभित भी हैं, तो भी अत्यन्त शोभित हुए, यह बात पहिले भी कह आये हैं कि भगवान् शक्तियों सहित अधिक शोभित होता है ।